54/3-4

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में -

कहाँ/क्या?

वर्ष-54, किरण-3 4
जुलाई-दिसम्बर 2001

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
261/3, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
फोन : (0131) 603730

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

सस्था की
आजीवन सदस्यता
1100/
वार्षिक शुल्क
30/
इस अक का मूल्य
10/
सदस्यो व मदिरो के
लिए नि:शुल्क

प्रकाशक
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स-110032

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र है। यह आवश्यक नही कि सम्पादक उनके विचारो से सहमत हो। इसमे प्राय: विज्ञापन एवं समाचार नही लिए जाते।

वीर सेवा मंदिर

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 3250522

सस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80 जी के अतर्गत आयकर मे छूट

(रजि. आर 10591/62)

आतमरूप अनुपम है

आतमरूप अनुपम है,
घटमाहिं विराजै।
जाके सुमरन जाप सो,
भव-भव दुःख भाजै हो।

केवल दरशन ज्ञानमै,
थिरता पद छाजै हो।
उपमाको तिहुँ लोक में,
कोउ वस्तु न राजै हो॥1॥

सहै परीषह भार जो,
जु महाव्रत साजै हो।
ज्ञान बिना शिव ना लहै,
बहु कर्म उपाजै हो॥2॥

तिहुँ लोक तिहुँ काल में,
नहिं और इलाजे हो।
'द्यानत' ताको जानिये,
निज स्वारथ काजै हो॥3॥

- कविवर द्यानतराय

आर्यिका ज्ञानमती की संस्कृत साहित्य की देन

- डॉ. जयकुमार जैन

भारतीय संस्कृति के सर्वांगीण ज्ञान के लिए प्राचीन भारतीय भाषाओं में लिखित साहित्य का पर्यालोचन अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन भारतीय भाषाओं में भारतीय संस्कृति के एक प्रमुख वाहन के रूप में संस्कृत भाषा का अद्वितीय महत्त्व सर्वत्र स्वीकृत है। भारत की यह संस्कृति अनादिकाल से अनन्त प्रकार के सम्प्रदायों की देन से समृद्ध हुई है। अत: संस्कृत साहित्य का विशाल भण्डार प्राचीनकाल के तीन प्रमुख सम्प्रदायों-वैदिक, जैन और बौद्ध के मनीषियों की सेवा से सतत समृद्ध हुआ है। एक विशिष्ट भारतीय सम्प्रदाय के रूप में जैनों ने साहित्य की जो सेवा की है, इस विषय में सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् डॉ. एम. विन्टरनित्ज़ का कथन द्रष्टव्य है-

share to the religious, ethical and scientific literature of ancient India "

-The jainas in the History of Indian Literature, page 5

— मैं जैनों की साहित्यिक उपलब्धियों का युक्तियुक्त पूर्ण विवेचन करने में असमर्थ रहा हूँ। किन्तु मैं आश्वस्त हूँ कि जैनों ने प्राचीनकाल के धार्मिक, नैतिक और वैज्ञानिक साहित्य में जो सम्पूर्ण सहयोग दिया है, उसे मैंने प्रमाणित कर दिया है।

विद्वान् समीक्षक की इस उक्ति से स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में जैनों की देन का पूर्णांग आकलन करना अत्यन्त आवश्यक है। पुराकाल में धार्मिक साहित्य-सृजन के क्षेत्र में साधु तो अग्रणी बने रहे किन्तु साध्वियों द्वारा लिखित साहित्य की कोई उल्लेख्य धारा नहीं मिलती है। यह सुखद आश्चर्य

की बात है कि जैन धर्मसंघ के सभी सम्प्रदायों में साधुओं की भाँति साध्वियाँ भी साहित्य-प्रणयन के क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गतिशील हुई हैं। समग्र जैन साहित्य के सिंहावलोकन से यह तथ्य स्पष्टतया उद्घाटित हो जाता है कि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के पूर्व वीरशासन में ऐसा एक भी काल नहीं रहा है, जब किसी जैन साध्वी ने अपने तपोमय जीवन से समय निकालकर साधुओं के समान विशाल स्तर पर साहित्य-प्रणयन किया हो।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में साहित्य-जगत् में एक ऐसी कारयित्री एव भावयित्री प्रतिभासम्पन्न साध्वी आर्यिका ज्ञानमती ने कदम रखा, जिसने संस्कृत एवं हिन्दी भाषाओं में विरचित अपनी शताधिक कृतियों से चिन्तनशील दार्शनिकों, सहृदय कवियों, सशक्त टीकाकारों, गुणज्ञ भावकों और साधक भक्तों को अतिशय प्रभावित किया है। यदि मैं अपनी समीक्षक दृष्टि में तनिक भक्ति का भी समावेश कर लूं तो मुझे एक शिलालेख में वादिराज सूरि के लिए प्रयुक्त निम्नलिखित उक्ति आर्यिका ज्ञानमती के लिए भी सर्वथा समीचीन प्रतीत होती है-

'सदसि यदकलङ्कः कीर्तने धर्मकीर्तिः,
वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः।
इति समयगुरूणामेकतः संगतानां,
प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः॥

भारतीय चिन्तन धारा मौलिक रूप से अध्यात्मवादी रही है। फलतः भारतीय मनीषा साहित्य का उद्देश्य प्रेय एवं लौकिक ही न मानकर श्रेय एवं आमुष्मिक भी स्वीकार करती है। पूज्य गणिनी आर्यिका ज्ञानमती द्वारा प्रणीत समग्र साहित्य धर्मनिष्ठ होने के कारण जहाँ एक ओर श्रेय का साधक है वहाँ दूसरी ओर काव्यसरणि का आश्रय लेने से प्रेय अर्थात् सद्यः आनन्दप्राप्ति का भी साधक है। आर्यिका ज्ञानमती ने अपनी साहित्यसाधना से संस्कृत साहित्य को चार रूपों में समृद्ध किया है-
(1) मौलिक साहित्य का सृजन करके, (2) संस्कृत टीका का प्रणयन करके, (3) क्लिष्ट संस्कृत ग्रन्थों पर हिन्दी टीका लिखकर और (4) संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी पद्यानुवाद रचकर।

1. मौलिक संस्कृत साहित्य

साहित्य सृजन की भूमिका के रूप में लेखन क्षेत्र में प्रवेश करते हुए लेखिका ने क्षुल्लिका वीरमती की अवस्था में सर्वप्रथम जिन सहस्रनाम मन्त्र की रचना की। यद्यपि यह रचना प्रौढ़ नहीं है, तथापि साहित्यनिर्माण में हेतुभूत होने के कारण इसका अद्वितीय महत्त्व है। पूज्य माताजी द्वारा विरचित आराधना नामक ग्रन्थ का प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप शासन करने से तथा सूक्ष्मातीत तत्त्वों का शंसन करने से शास्त्रत्व सर्वथा सुसंगत है। संस्कृत के 444 श्लोकों मे विरचित इस शास्त्र में पूज्य माताजी ने मुनिधर्म का सरल एवं प्रसादगुण समन्वित शैली में विवेचन किया है। मूलाचार, भगवती आराधना, अनगार धर्मामृत एवं रत्नकरण्डश्रावकाचार आदि पूर्वाचार्यो द्वारा प्रणीत ग्रन्थों के सार को आराधना में एकत्र प्रस्तुत करते हुए गागर में सागर भरने का कार्य किया गया है। आराधना का शाब्दिक अर्थ पूजा, उपासना या अर्चना है। निश्चय की अपेक्षा आराधना एक ही है, किन्तु व्यवहार की अपेक्षा से आराधना के चार भेद हैं-दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप। 'आराधना' नामक इस शास्त्र में चतुर्विध आराधना का सांगोपांग वर्णन किया गया है। पूज्य माताजी ने महाव्रत एवं मूलगुण की अन्वर्थक संज्ञा की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि महाव्रत को इसलिए महाव्रत कहा गया है, क्योकि ये व्रत महापुरुषों द्वारा सेवित हैं।[1] इसी प्रकार मूलगुण साधु की स्थिति में मूल या नींव के समान हैं तथा मोक्ष के मूल कारण हैं, अतएव मूलगुण कहलाते हैं।[2] आराधना शास्त्र लेखिका के अपार वैदुष्य, मौलिक कर्तृत्व, विषयसंग्राहित्व, सरल प्रस्तुतीकरण और भाषा पर अप्रतिम अधिकार का सूचक है। कहीं भी व्याकरण या छन्द:शास्त्र की दृष्टि से स्खलन तथा सैद्धान्तिक प्रतिपादन में विरोध का अभाव इस शास्त्र की विशेषता है। यह ग्रन्थ साधुमात्र को तो पठनीय है ही, श्रावकों को भी इसका महत्त्व कम नहीं है। श्रमण आचारशास्त्र की परम्परा में आर्यिका द्वारा विरचित यह एकमात्र शास्त्र है, अत: इसका महत्त्व और भी विशिष्ट है।

गणिनी आर्यिका ज्ञानमती ने 40 के लगभग संस्कृत स्तोत्रों की रचना की है। स्तोत्र शब्द अदादिगण की उभयपदी स्तु धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय का निष्पन्न रूप है, जिसका अर्थ गुणसंकीर्तन है। स्त्रीलिंग में प्रयुक्त स्तुति शब्द स्तोत्र का

ही पर्यायवाची है। गुण संकीर्तन आराध्य की भक्ति का एक माध्यम है और विशुद्ध भावना वाली भक्ति भवनाशिनी होती है। वादीभसिंह सूरि ने भक्ति को मुक्तिकन्या के पाणिग्रहण में शुल्क रूप कहा है।[3] माताजी द्वारा विरचित स्तोत्रों का लौकिकफल शिवेतरक्षति एवं सद्यःपरनिवृत्ति तथा आमुष्मिक फल परम्परा से निवृत्ति की प्राप्ति है। भारतीय साहित्य में स्तोत्रपरम्परा प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य में दृष्टिगत होती है। चतुर्विध वेद इसके निदर्शन हैं। वेद के अनेक सूक्तों की मन्त्रदृष्टा ऋषिकायें हैं किन्तु आगे स्तोत्रपरम्परा में नारियों के अवदान की इस परम्परा का ह्रास चिन्त्य है। पूज्य गणिनी आर्यिका ज्ञानमती ने संस्कृत में अनेक उच्चकोटि के स्तोत्रों की रचना करके संस्कृत स्तोत्र वाङ्मय में प्रथम स्थान बनाया है। इतने विपुल स्तोत्र साहित्य का निर्माण सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में किसी एक व्यक्ति द्वारा किया गया हो, ऐसा उल्लेख भी नहीं मिलता है।

वर्ण्यविषय की दृष्टि से माताजी द्वारा रचित स्तोत्र बहुआयामी है। इसमें चौबीस तीर्थंकर, भगवान् बाहुबलि, गणधर, सिद्ध प्रभु, सिद्धक्षेत्र, त्रिलोकसम्बन्ध ी चैत्यालय, पंचमेरु, जम्बूद्वीप एवं वर्तमान काल के मुनिवरों की स्तुति के साथ षोडशकारणभावना, दशधर्म आदि का भी स्तवन किया गया है। मुनिवरों के पश्चात् प्रथम गणिनी आर्यिका ब्राह्मी माता की स्तुति लिखकर उन्होंने पूज्यताक्रम का शास्त्रानुमोदित परिपालन किया है। उनके द्वारा प्रणीत देव-शास्त्र-गुरु की ये स्तुतियाँ धार्मिक एवं साहित्यिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। एक लेख में माताजी द्वारा विरचित इन स्तोत्रों का वर्णन करना सर्वथा असंभव है। इन स्तोत्रों में कल्याणकल्पतरु नामक स्तोत्र का विश्व के स्तोत्रवाङ्मय मे सर्वातिशायी महत्त्व है। 212 पद्यात्मक इस स्तोत्र में 24 तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। छन्दःशास्त्र की दृष्टि से इस स्तोत्र का महनीय योगदान है। इसमें एक अक्षर वाले छन्द से लेकर 27 अक्षर वाले 143 प्रकार के छन्दों का तथा 30 अक्षर वाले एक अर्णोदण्डक का प्रयोग हुआ है। ऐसी स्थिति संस्कृत के स्तोत्र साहित्य में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हुई है। छन्दों के इस उपवन में माताजी ने अध्यात्म, दर्शन और इतिहास के पुष्पों को पुष्पित करके भारत की विद्वत्परम्परा में अगाध पैठ बनाई है। इस स्तोत्र में तीर्थंकरों की पंचकल्याणक तिथियाँ, माता-पिता एवं जन्मस्थान आदि के नाम, शरीर का वर्ण, अवगाहना

एवं आयु महापुराणकार जिनसेनाचार्य एवं उत्तरपुराणकार गुणभद्राचार्य के अनुसार वर्णित हैं। टिप्पणियों में मतान्तरों के समावेश से शोधार्थी लाभ उठा सकेंगे। इसकी अलंकार योजना भी प्रशस्य है। एक मात्र कल्याणकल्पतरु के सर्वांग अध्ययन से सभी शास्त्रों का ज्ञान हो सकता है।

पूज्य माताजी के स्तोत्रों के विहंगम समीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता हे कि उनकी कारयित्री प्रतिभा अलौकिक है। इनमें शान्तरस और वैदर्भी रीति है। प्रसाद गुण से सद्य: अर्थाभिव्यक्ति होती है तो माधुर्य के कारण शब्द नाचते से प्रतीत होते हैं। सूक्तियों के समावेश ने स्तोत्रों में रमणीयता ला दी है। वास्तव में माताजी द्वारा विरचित स्तोत्र भारतीय साहित्य को उनका स्पृहणीय उपहार है।

2. मौलिक संस्कृत टीका

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्राकृत भाषा में प्रणीत ग्रन्थों में नियमसार का महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु उनके पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार एवं समयसार नामक ग्रन्थों को जितनी प्रसिद्धि मिली, उतनी नियमसार को न मिल सकी। इसका प्रमुख कारण संभवत: यही रहा है कि इसकी कोई ऐसी संस्कृत टीका उपलब्ध नहीं थी, जो आध्यात्मिक और सैद्धान्तिक दोनों दृष्टियों को सुस्पष्ट करती हो। नियमसार पर 1140 ई. में श्रीपद्मप्रभ मलधारिदेव द्वारा रचित एकमात्र संस्कृत टीका 'तात्पर्यवृत्ति' मिलती थी। टीकाओं के अनुसरण पर लिखित इस टीका में अध्यात्म को तो उजागर किया गया है, किन्तु यह अध्यात्म के साथ सिद्धान्त की संगति में अधिक सहायक नहीं है। माताजी ने नियमसार पर 'स्याद्वादचिन्तामणि' टीका दण्डान्वय एवं खण्डान्वय पद्धति से लिखी है, जिससे मूल गाथा का शाब्दिक अर्थ एवं उसका विशेष अभिप्राय एकदम स्पष्ट हो जाता है। माताजी द्वारा रचित इस टीका की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने कथन के समर्थन में जैन परम्परा के 62 प्रामाणिक ग्रन्थों के सन्दर्भ एवं उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। उभयविध नयाश्रित होने के कारण समयसारादि के टीकाकार जयसेनाचार्य के समान पूज्य माताजी को भी जैन परम्परा में स्थान प्राप्त होगा, यह असंदिग्ध है। अन्तिम गाथा की टीका में माताजी ने आर्यिकाओं को 11 अंग तक पठन-पाठन का अधिकारी

कहकर कदाचित् उन लोगों का मुखमुद्रण किया है, जो ऐसी आशंका करते हैं कि क्या आर्यिकायें सिद्धान्त ग्रन्थों का प्रणयन कर सकती हैं?

3. क्लिष्ट संस्कृत ग्रन्थों पर हिन्दी टीका

माताजी ने मौलिक संस्कृत साहित्य एवं संस्कृत टीका क प्रणयन के अतिरिक्त जैन विद्वानों में 'कष्टसहस्री' के नाम से प्रसिद्ध आचार्य विद्यानन्द द्वारा प्रणीत 'अष्टसहस्री' पर 'स्याद्वादचिन्तामणि' नामक हिन्दी टीका की रचना करके न्यायशास्त्र के जिज्ञासुओं का मार्ग प्रशस्त किया है। लगभग 1500 पृष्ठो के तीन भागों में प्रकाशित अष्टसहस्री टीका पूज्य माताजी ने यद्यपि स्वान्तःसुखाय लिखी है[4], तथापि इससे न केवल जैन दार्शनिकों-नैयायिकों का अपितु सभी भारतीय दार्शनिकों-नैयायिकों का अत्यन्त कल्याण हुआ है। अष्टसहस्री जैसे दुष्प्रवेश्य शास्त्र पर हिन्दी टीका माताजी के अगाध वैदुष्य तथा न्याय-व्याकरण आदि शास्त्रों के सूक्ष्मपरिशीलन की तो प्रतीक है ही, उनकी लोकहितकारिणी भावना को भी अभिव्यक्त करती है।

4. संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी पद्यानुवाद

आर्यिका ज्ञानमती जी ने समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, रत्नकरण्डश्रावकाचार, आत्मानुशासन आदि ग्रन्थों का पद्यानुवाद करके उन भावक भक्तों का मार्ग निष्कंटक बना दिया है, जो संस्कृत भाषा के हार्द को समझने में असमर्थ हैं तथा संस्कृत श्लोकों को कण्ठस्थ करना जिन्हें कठिन प्रतीत होता है। माताजी के पद्यानुवादों में मौलिक काव्य की तरह प्रवाह है। इस सन्दर्भ में इष्टोपदेश का एक पद्य द्रष्टव्य है-

'विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिवाह्यते।
यावत्तावद्भवन्त्यन्याः प्रचुराः विपदःपुरः॥12॥

इसके निम्नलिखित पद्यानुवाद को देखें, जिसमें माताजी ने इसके भावों को किस मौलिकता के साथ स्पष्ट किया है-

'भवविपदामय आवर्तो में यह पुनः पुनः ही फसता है।
जब तक विपदा इक गई नहीं, आ गईं हजारों दुखदाहैं॥

पूज्य माताजी द्वारा किया गया अष्टसहस्री का पद्यानुवाद भी इस दुरूह एवं क्लिष्ट ग्रन्थ के हार्द को सुस्पष्ट करने में सर्वथा समर्थ है। अन्यन्त संक्षेप में मैंने संस्कृत साहित्य में आर्यिकारत्न ज्ञानमती की देन की चर्चा की है। मुझे विश्वास है कि पूज्य माताजी का संस्कृत साहित्य में काव्यप्रतिभा एवं तार्किक वैदुषी के लिए समीचीन मूल्यांकन होगा।

सन्दर्भ

1. 'तीर्थकृच्चक्रवर्त्यादिमहापुरुषसेवितम्।
   तस्मान्महाव्रतं ख्यातमित्युक्तं मुनिमुङ्गवैः।।' -आराधना, श्लोक 55
2. 'मूलं विना वृक्ष इवालयो च भवेन्न लोके च तथैव साधुः।
   न जायते मूलगुणान् विनाऽस्माद् एते विमुक्तिरपि मूलमेव।।'
   –वही, श्लोक 88
3. 'श्रीपतिर्भगवान्पुष्याद् भक्तानां वा समीहितम्।
   यद्भक्तिः शुल्कतामेति मुक्तिकन्याकरग्रहे।।' क्षत्रचूडामणि, मंगलाचरण
4. 'स्याद्वादचिन्तामणिनामधेया, टीका मयेय क्रियतेऽल्पबुद्धया।
   चिन्तामणिः चिन्तितवस्तुदावे, सम्यक्तशुद्धयै भवतात् सदा में।'
   -अष्टसहस्री, भाग-1, श्लोक 17

रीडर एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग
एस.डी. (पी.जी.) कालेज
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)-251001

●●

जयधवला टीका में प्रयुक्त कतिपय रूपक और दृष्टान्त

- डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी

जब हम शौरसेनी प्राकृत आगम साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ करते हैं, तब सर्वप्रथम हमारी दृष्टि आचार्य गुणधर रचित ''कसायपाहुड सुत्त'' पर जाती है। यह विक्रमपूर्व प्रथमशती की रचना है। यह उपलब्ध जैन साहित्य में कर्मसिद्धान्त विषयक प्राचीनतम परम्परा का एक महान् अद्वितीय ग्रन्थ माना जाता है। यह आचारांग आदि बारह अंग आगमों के अन्तर्गत बारहवें ''दृष्टिवाद'' नामक अंग के अन्तर्गत माना गया है, परन्तु दृष्टिवाद के अन्तर्गत पूर्वगत अर्थात् चौदह पूर्वो में ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्व में दसवीं वस्तु के अन्तर्गत ''पाहुड'' की बीस अर्थाधिकारों में तीसरे पाहुड का नाम पेज्जदोस पाहुड कहा है। यह बहुत ही विशाल ग्रन्थ था। जिसे साररूप में आचार्य गुणधर ने ''गाथासूत्र'' शैली मे 233 गाथाओं में निबद्ध किया। इन गाथासूत्रों को अनन्त अर्थ से गर्भित कहा गया है। इसीलिए इनके स्पष्टीकरण हेतु महाकम्म पवडि पाहुड के महान् विशेषज्ञ आचार्य यतिवृषभ ने इस पर छह हजार श्लोक प्रमाण चुण्णिसुत्तों की रचना की। इन चुण्णिसुत्तों के स्पष्टीकरण हेतु उच्चारणाचार्य ने बारह हजार श्लोक प्रमाण ''उच्चारणा'' नामक वृत्ति का निर्माण किया। इसके बाद शामकुण्डाचार्य, तुम्बलूराचार्य, बप्पदेवाचार्य द्वारा वृहद् टीकायें लिखीं गईं। इन टीकाओं के उल्लेख मात्र तो प्राप्त हैं किन्तु ये महान् टीकायें आज हमें उपलब्ध नहीं हैं।

जयधवला टीका-यह सत्य है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार सभी वस्तुओं में निरन्तर परिवर्तन होता ही रहता है, अत: युग के अनुसार लोगों की स्मरण और ग्रहण शक्ति में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। अत: सिद्धान्त के विषयों की गहनता और भाषा की कठिनाई ने इस महान् ज्ञान की

अविच्छिन्न धारा में बाधा डालना प्रारम्भ किया, तब उपर्युक्त टीकाओं और मूलग्रन्थों के अनन्त गहन अर्थों के हृदयंगम करके आचार्य वीरसेन स्वामी (नवीं शती का पूर्वार्ध), तथा आचार्य जिनसेन (नवीं शती) ने "मणिप्रवाल-न्याय" से प्राकृत-संस्कृत मिश्रित भाषा में साठ हजार श्लोक प्रमाण "जयधवला" नामक विशाल टीका की सरल भाषा में रचना करके महान् आगम ज्ञान की परम्परा को सुरक्षित करके अपने को अमर और भावी पीढ़ी द्वारा सदा के लिए श्रद्धा का पात्र बना लिया।

जयधवला टीका "मूलग्रन्थ" कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रों पर लिखी गई है। इसमें बीस हजार श्लोक प्रमाण प्रारम्भिक भाग की रचना आचार्य वीरसेन स्वामी ने की तथा इनके स्वर्गवास के बाद शेष भाग की रचना इनके सुयोग्य शिष्य "जिनसेनाचार्य" ने की। इस समय यह जयधवला टीका सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द शास्त्री और सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द शास्त्री के संयुक्त सम्पादकत्व में हिन्दी अनुवाद तथा विशेष विवेचन के साथ भा. दिगम्बर जैन संघ, मथुरा से 16 खण्डों में प्रकाशित है। जयधवला टीका की उपयोगिता और प्रसिद्धि इतनी अधिक है कि मूलग्रन्थ तक को "जयध वलसिद्धान्त ग्रन्थ" नाम से अभिहित करते हुए प्रायः देखा जाता है।

जयधवला टीका व्याख्यान शैली में लिखित साठ हजार श्लोक प्रमाण है। जयधवलाकार द्वारा प्रस्तुत विषय वर्णन की प्राञ्जलता, युक्तिवादिता तथा अपने या अन्य आचार्यो के मत को प्रस्तुत करने की दृढ़ता-इस टीका की प्रमुख विशेषता है।

रूपक और दृष्टान्त

जैसा कि मूलग्रन्थ कसायपाहुड और इसकी जयधवला टीका के नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें पेज्जदोष (पेज्ज=प्रेय=राग, दोष=द्वेष) तथा कषाय की बन्ध, उदय, सत्त्व आदि विविध दशाओं के द्वारा कषायों का विस्तृत-व्याख्यान किया गया है। इसके पन्द्रह अधिकारों में से प्रारम्भ के आठ अधिकारों में संसार के कारणभूत मोहनीय कर्म की विविध दशाओं का तथा अन्तिम सात अधिकारों में आत्म परिणामों के विकास से शिथिल होते हुए मोहनीय कर्म की

विविध दशाओं का विवेचन है। अत: कर्मसिद्धान्त का ग्रन्थ होने के कारण इसमें अलंकार, रूपक तथा दृष्टान्तों का दुर्लभ होना स्वाभाविक है, फिर भी कहीं-कहीं जयधवलाकार ने मंगलाचरणों तथा कहीं-कहीं अपने विषय को समझाने के लिए रूपक और दृष्टान्तों को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह इस प्रकार है-

जयधवला टीका (भाग-1) के प्रारम्भ में आचार्य वीरसेन ने मंगलाचरण के रूप में कहा है-

तित्थयरा चउबीस वि केवलणाणेण दिट्ठसव्वट्ठा।
पसियंतु सिवसरूपा तिहुणसिर सेहरा मज्झं।।२।।

अर्थात् जिन्होंने अपने केवलज्ञान से समस्त पदार्थों का साक्षात्कार कर लिया, जो शिवस्वरूप है और तीनों लोकों के अग्रभाग में विराजमान होने के कारण अथवा तीनों लोकों के शलाका पुरुषों में श्रेष्ठ होने के कारण त्रिभुवन के सिर पर शेखर रूप हैं, ऐसे चौबीसों तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हों। यहाँ चौबीस तीर्थंकरों को शिवस्वरूप कहा है।

गणधर देव को समुद्र सदृश बतलाते हुए आचार्य कहते हैं-जो सम्यग्दर्शन आदि अनेक गुणरूपी रत्नों से भरे हुए हैं और श्रुतज्ञान रूपी अमित जल समुदाय से गंभीर हैं, जिनकी विशालता का पार नहीं मिलता और जो अनेक नयों के उत्तरोत्तर भेद रूपी उन्नत तरंगों से युक्त हैं-ऐसे गणधरदेव रूपी समुद्र को तुम लोग नमस्कार करो[1]।

यहाँ आचार्य ने कहा है कि जैसे समुद्र में रत्न, गहरी जलराशि तथा तरंगे होती हैं उसी प्रकार गणधरदेव में भी अनेक गुणरूपी रत्न, श्रुतज्ञान रूपी अथाह ज्ञान है तथा उनका यह श्रुतज्ञान भी नयभंग रूपी तरंगों से युक्त है।

आगे संसार को बेल की उपमा देते हुए कहा है कि[2] जैसे बेल (लता) का आदि, मध्य और अन्त होता है, उसकी पोरें भी स्वल्प होती हैं उसी प्रकार संसार भी ऐसी बेल है जो सन्तानक्रम से अनादि काल से चली आ रही है-ऐसी संसाररूपी बेल को जिन जिनदेव ने छेद (समाप्त कर) दिया, उन्हें मैं

नमस्कार करता हूँ।

सप्तम वेदक नामक अर्थाधिकार (भाग 10 पृ. 2) में कर्मों की उदय और उदीरणा को समझाते हुए कहा है कि-"जिस प्रकार वनस्पति के फल परिपाक काल के द्वारा या उपाय द्वारा परिपाक को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार किये गये कर्म परिपाककाल के द्वारा या तप के द्वारा पचते हैं।

जयधवलाकार ने व्यंजन नामक अनुयोग द्वार के अन्त में कहा है[3]-जिस प्रकार विद्या की आराधना कष्टसाध्य होती है, उसी प्रकार लोभ का आलम्बनभूत भोगोपभोग कष्टसाध्य होने से प्रकृत में लोभ को कष्टसाध्य कहा गया है। इसी प्रकार लोभ जिह्वा के समान होने से जिह्वास्वरूप है, यहाँ असंतोषरूप साधर्म्य का आश्रयकर जिह्वा लोभ का पर्यायवाची बताया है।

सातवें भाग (पृ. 366) में जिनेन्द्रदेव को महोदधि की उपमा देते हुए कहा है कि-जैसे महोदधि के गर्भ से उत्तमोत्तम रत्न निकलते हैं, उसी प्रकार जो जिनेन्द्रदेव के वचनरूपी महोदधि से जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप तीन रत्न निकले हैं वे संसार के सभी निर्मल पदार्थों में सारभूत हैं अतः इन तीन रत्नों की सदा जय हो।

अणुभाग विहत्ती नामक पाँचवें भाग (पृ. 130) में शक्ति की अपेक्षा कर्मो के अनुभाग स्थान के चार विकल्प प्रस्तुत किये हैं-1. लता रूप 2. दारु रूप 3. अस्थि रूप 4. शैल रूप।

जयधवला भाग 12 के उपयोग नामक सप्तम अर्थाधिकार की गाथा 2-71 (पृष्ठ 152) में दृष्टान्तों द्वारा क्रोध कषाय को प्रतिपादित करते हुए कहा है-

णग-पुढवि-वालुगोदयराईस सरिसो चउव्विहो कोहो।
सेलघण-अट्ठि-दारुअ-लदासमाणो हवदि माणो॥2-71॥

अर्थात् क्रोध चार प्रकार का है-नगराजिसदृश, पृथिवीराजि सदृश, वालुकाराजि सदृश तथा उदकराजि सदृश।

1. **नगराजिसदृश क्रोध**-अर्थात् पर्वतशिला भेद सदृश क्रोध। इसे उदाहरण द्वारा समझाते हुए कहा है कि जैसे पर्वत शिलाभेद किसी भी दूसरे कारण से उत्पन्न होकर पुनः कभी भी दूसरे उपाय द्वारा सन्धान को प्राप्त नहीं होता, तदवस्थ ही बना रहता है। इसी प्रकार जो क्रोध परिणाम किसी भी जीव के किसी भी पुरुष विशेष में उत्पन्न होकर उस भव में उसी प्रकार बना रहता है, जन्मान्तर में भी उससे उत्पन्न हुआ संस्कार बना रहता है, यह उस प्रकार का तीव्रतर क्रोध परिणाम नगराजिसदृश कहा जाता है।

2. **पृथिवीराजिसदृश क्रोध**-जैसे ग्रीष्मकाल में पृथिवी का भेद हुआ अर्थात् पृथिवी के रस का क्षय होने से यह भेद रूप से परिणत हो गई। पुनः वर्षाकाल में जल के प्रवाह से वह दरार भरकर उसी समय संधान को प्राप्त हो गई। इसी प्रकार जो क्रोध परिणाम चिरकाल तक अवस्थित रहकर भी पुनः दूसरे कारण से तथा गुरु के उपदेश आदि से उपशमभाव को प्राप्त होता है वह उस प्रकार का तीव्र परिणाम भेद पृथिवीराजि सदृश जाना जाता है।

3. **वालुकाराजि सदृश क्रोध**-इसे उदाहरण द्वारा समझाते हुए कहा है कि नदी के पुलिन आदि में वालुका राशि के मध्य पुरुष के प्रयोग से या अन्य किसी कारण से उत्पन्न हुई रेखा जैसे हवा के अभिघात आदि दूसरे कारण द्वारा शीघ्र ही पुनः समान हो जाती है अर्थात् मिट जाती है, उसी प्रकार क्रोध परिणाम भी मन्दरूप से उत्पन्न होकर गुरु के उपदेश रूपी पवन से प्रेरित होता हुआ अतिशीघ्र उपशम को प्राप्त हो जाता है। वह क्रोध वालुकाराजि के समान कहा जाता है।

4. **उदकराजिसदृश क्रोध**-इसी प्रकार उदकराजि के सदृश भी क्रोध जान लेना चाहिए। इतनी विशेषता है कि इससे भी मन्दतर अनुभाग वाला और स्तोकतर काल तक रहने वाला वह जानना चाहिए। क्योंकि पानी के भीतर उत्पन्न हुई रेखा का बिना दूसरे उपाय के उसी समय ही विनाश देखा जाता है।

इसी प्रकार मायाकषाय को भी सोदाहरण समझाते हुए कहा है कि-

वंसीजण्हुगसरिसी मेंढविसाणसरिसी य गोमुत्ती।
अवलेहणीसमाणा माया वि चउव्विहा भणिदा॥3-72॥

अर्थात् मायाकषाय के चार प्रकार हैं- बाँस की जड़ के सदृश, मेढ़े की सींग के सदृश, गोमूत्र के सदृश तथा अवलेखनी के सदृश।

1. जैसे बाँस के जड़ की गाँठ नष्ट होकर तथा शीर्ण होकर भी सरल नहीं की जा सकती है, इसी प्रकार अति तीव्र वक्रभाव से परिणत माया परिणाम भी निरूपक्रम होता है।

2. इसी प्रकार मेढे की सींग के सदृश माया की दूसरी अवस्था है। जैसे अतिवलित वक्रतररूप से परिणत हुए भी मेढे के सींग को अग्नि के ताप आदि दूसरे उपायों द्वारा सरल करना शक्य है।

3. तीसरी मायाकषाय को गोमूत्र सदृश कहा है तथा चतुर्थ मायाकषाय को अवलेखनी (दातौन या जीभ के मल का शोधन करने वाली जीभी) लेना चाहिए। इसी प्रकार लोभकषाय को कृमिराग के सदृश अक्षमल के सदृश, पांशुलेप तथा हरिद्रावस्त्र के सदृश बतलाया है।

जयधवला के ही अन्तिम 16वें भाग के पच्छिमखंध नामक अर्थाधिकार में कहा है कि जैसे बीज के अस्तित्व में जौ, तिल, मसूर आदि पृथिवी में निक्षिप्त कर अनेक कारणों के वश से अंकुरों को उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार संसार में शरीर को मूल कारण कर्म है, उस कर्म के क्षय को प्राप्त होने पर शरीरध ारियों के भव बीज के नहीं रहने पर नवबीज की उत्पत्ति नहीं होती।

इस प्रकार जयधवलाकार ने मूलग्रन्थगत विषय के अनुरूप सिद्धान्तों का ही व्याख्यान शैली में प्रयोग किया है अत: रूपक और दृष्टान्तों का कहीं-कहीं ग्रन्थ की विशालता को देखते हुए बहुत कम मात्रा में प्रस्तुत किया है। फिर भी, इन्हें जितने रूपों में प्रस्तुत किया वे अपने विषय को प्रस्तुत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं।

सन्दर्भ

1. कसाय पाहुड भाग-1 पृष्ठ 3 मंगलाचरण गाथा 5.

2. अंताइ-मज्झरहिया जाइ-जरा-मरणणंत पोरड्ढा।
संसारलया तमहं जेणच्छिण्णा जिणं वंदे।। जयधावला भाग 3 पृ.1

अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

3. वहीं : भाग 12, पृ. 192.

निवास-अनेकान्त भवनम्
बी-23/45पी-6, शारदानगर कालोनी
नवाबगंज मार्ग, वाराणसी-221010

●●

वैशाली-गणतन्त्र

श्री राजमल जैन

25 वर्ष पूर्व अनेकान्त वर्ष 28 अंक में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण आलेख, जिसमें वैशाली गणतन्त्र के विषय में शोधपूर्ण जानकारियाँ दी गईं हैं भगवान महावीर के 2600वें जन्म जयन्ती महोत्सव वर्ष के प्रसंग से पुन: प्रकाशित।

● सम्पादक

वैशाली-गणतन्त्र के वर्णन के बिना जैन राजशास्त्र का इतिहास अपूर्ण ही रहेगा। वैशाली-गणतन्त्र के निर्वाचित राष्ट्रपति ('राजा' शब्द से प्रसिद्ध) चेटक की पुत्री त्रिशला भगवान् महावीर की पूज्य माता थी। (श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार, त्रिशला चेटक की बहन थीं) भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ वैशाली के एक उपनगर 'कुण्डग्राम' के शासक थे। अत: महावीर भी 'वैशालिक' अथवा 'वैशालीय' के नाम से प्रसिद्ध थे। भगवान महावीर ने संसार-त्याग के पश्चात् 42 चातुर्मासों में से छ: चातुर्मास वैशाली में किये थे। कल्प-सूत्र (122) के अनुसार महावीर ने बारह चातुर्मास वैशाली में व्यतीत किये थे।[1]

महात्मा बुद्ध एवं वैशाली :

इसका यह तात्पर्य नहीं कि केवल महावीर को ही वैशाली प्रिय थी। इस गणतन्त्र तथा नगर के प्रति महात्मा बुद्ध का भी अधिक स्नेह था। उन्होंने कई बार वैशाली में विहार किया था तथा चातुर्मास बिताए। निर्वाण से पूर्व जब बुद्ध इस नगर में से गुजरे तो उन्होंने पीछे मुड़ कर वैशाली पर दृष्टिपात किया और अपने शिष्य आनन्द से कहा, "आनन्द! इस नगर में यह मेरी अन्तिम यात्रा होगी।"[2] यहीं पर उन्होंने सर्वप्रथम भिक्षुणी-संघ की स्थापना की तथा आनन्द के अनुरोध पर गौतमी को अपने संघ में प्रविष्ट किया। एक अवसर पर जब

बुद्ध को लिच्छिवियों द्वारा निमन्त्रण दिया गया तो उन्होंने कहा-''हे भिक्षुओं! देव-सभा के समान सुन्दर इस लिच्छवि-परिषद को देखो।[3]

महात्मा बुद्ध ने वैशाली-गणतन्त्र के आदर्श पर भिक्षु संघ की स्थापना की। भिक्षु संघ के छन्द (मत-दान) तथा दूसरे प्रबन्ध के ढंगों में लिच्छवि (वैशाली) गणतंत्र का अनुकरण किया गया है।'' (राहुल सांकृत्यायन-पुरातत्व-निबन्धावली-पृष्ठ 12) यद्यपि बुद्ध शाक्य-गणतन्त्र से सम्बद्ध थे (जिसके अध्यक्ष बुद्ध के पिता शुद्धोदन थे), तथापि उन्होंने वैशाली-गणतन्त्र की पद्धति को अपनाया। हिन्दू राजशास्त्र के विशेषज्ञ श्री काशीप्रसाद जायसवाल के शब्दो में ''बौद्ध संघ ने राजनैतिक संघों से अनेक बातें ग्रहण की। बुद्ध का जन्म गणतन्त्र में हुआ था। उनके पड़ोसी गणतन्त्र-संघ थे और वे उन्हीं लोगों में बड़े हुए। उन्होंने अपने संघ का नामकरण 'भिक्षु-संघ' अर्थात् भिक्षुओं का गणतन्त्र किया। अपने समकालीन गुरुओं का अनुकरण करके उन्होंने अपने धर्म-संघ की स्थापना में गणतन्त्र संघों के नाम तथा संविधान को ग्रहण किया। पालि-सूत्रों में उद्धृत, बुद्ध के शब्दों के द्वारा राजनैतिक तथा धार्मिक संघ व्यवस्था का सम्बन्ध सिद्ध किया जा सकता है।[4] विद्वान् लेखक ने उस सात नियमों का वर्णन किया है जिनका पूर्ण पालन होने पर वज्जि-गण (लिच्छवि एवं विदेह) निरन्तर उन्नति करता रहेगा। इन नियमों का वर्णन महात्मा बुद्ध ने मगधराज अजात-शत्रु (जो वज्जिगण के विनाश का इच्छुक था) के मन्त्री के सम्मुख किया था। बुद्ध ने भिक्षु-संघ को भी इन नियमों के पालन की प्रेरणा दी थी।

बौद्ध ग्रन्थ एवं वैशाली :

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैशाली-गणतन्त्र के इतिहास तथा कार्य प्रणाली के ज्ञान के लिए हम बौद्ध ग्रन्थों के ऋणी हैं। विवरणों की उपलब्धि के विषय में ये विवरण निराले हैं। सम्भवत: इसी कारण श्री जायसवाल ने इस गणतंत्र को 'विवरणयुक्त गणराज्य' Recorded republic शब्द से सम्बोधित किया है। क्योंकि अधिकांश गणराज्यों का अनुमान कुछ सिक्कों या मुद्राओं से

या पाणिनीय व्याकरण के कुछ सूत्रों में अथवा कुछ ग्रन्थों में यत्र-तत्र उपलब्ध संकेतों से किया गया है। इसी कारण विद्वान् लेखक ने इसे 'प्राचीनतम गणतन्त्र' घोषित किया है, जिसके लिखित साक्ष्य हमें प्राप्त हैं और जिसकी कार्य-प्रणाली की झाँकी हमें महात्मा बुद्ध के अनेक सम्वादों में मिलती है।

वैशाली गणतन्त्र का अस्तित्व कम से कम 2600 वर्ष पूर्व रहा है। 2500 वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने 72 वर्ष की आयु में निर्वाण प्राप्त किया था। यह स्पष्ट ही है कि महावीर वैशाली के अध्यक्ष चेटक के दौहित्र थे। महात्मा बुद्ध महावीर के समकालीन थे। बुद्ध के निर्वाण के शीघ्र पश्चात् बुद्ध के उपदेशो को लेख-बद्ध कर लिया गया था। वैशाली में ही बौद्ध भिक्षुओं की दूसरी संगीति का आयोजन (बुद्ध के उपदेशों के संग्रह के लिए) हुआ था।[5]

वैशाली गणतन्त्र से पूर्व (छठी शताब्दी ई.पू.) क्या कोई गणराज्य था? वस्तुतः इस विषय में हम अंधकार में हैं। विद्वानों ने ग्रंथों में यत्र-तत्र प्राप्त शब्दों से इसका अनुमान लगाने का प्रयत्न किया है। वैशाली से पूर्व किसी अन्य गणतन्त्र का विस्तृत विवरण हमें उपलब्ध नहीं है। बौद्ध ग्रंथ 'अंगुत्तर मिकाय' से हमें ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी से पहले निम्नलिखित सोलह 'महाजन पद' थे-1. काशी 2. कोसल 3. अंग 4. मगध 5. वज्जि (वृजि) 6. मल्ल 7. चेतिय (चेदि) 8. वंस (वत्स) 9. कुरु 10 पंचाल 11. मच्छ (मत्स्य) 12. शूरसेन 13. अस्सक (अश्मक) 14. अवन्ति 15. गन्धार 16. कम्बोज।" इनमें से 'वज्जि' का उदय विदेह-साम्राज्य के पतन के बाद हुआ।[6]

जैन ग्रंथ 'भगवती सूत्र' में इन जनपदों की सूची भिन्न रूप में है जो निम्नलिखित है-1. अंग 2. वंग 3. मगह (मगध) 4. मलय 5. मालव (क) 6. अच्छ 7. वच्छ (वत्स) 8. कोच्छ (कच्छ?) 9. पाढ (पाण्ड्य या पौड्र) 10. लाढ (लाट या राट) 11. वज्जि (वज्जि) 12. मौलि (मल्ल) 13. काशी 14. कोसल 15. अवाह 16. सम्मुत्तर (सुम्भोत्तर?)। अनेक विद्वान् इस सूची को उत्तरकालीन मानते हैं,

परन्तु यह सत्य है कि उपर्युक्त सोलह जनपदों में काशी, कोशल मगध, अवन्ति तथा वज्जि सर्वाधिक शक्तिशाली थे।

वैशाली गणतन्त्र की रचना :

'वज्जि' नाम है एक महासंघ का, जिसके मुख्य अंग थे-ज्ञातृक, लिच्छवि एवं वृजि। ज्ञातृकों से महावीर के पिता सिद्धार्थ का सम्बन्ध था (राजधानी-कुण्डग्राम) लिच्छवियों की राजधानी वैशाली की पहचान बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में स्थित बसाढ़-ग्राम से की गई है। वृजि को एक कुल माना गया है, जिसका सम्बन्ध वैशाली से था। इस महासंघ की राजधानी भी वैशाली थी। लिच्छवियों के अधिक शक्तिशाली होने के कारण इस महासंघ का नाम 'लिच्छवि-संघ' पड़ा। बाद में, राजधानी वैशाली की लोकप्रियता से इसका भी नाम वैशाली-गणतन्त्र हो गया।

वज्जि एवं लिच्छवि :

बौद्ध साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि वज्जि महासंघ में अष्ट कुल (विदेह, ज्ञातृक, लिच्छवि, वृजि, उग्र, भोग, कौरव तथा ऐक्ष्वाकु) थे। इनमें भी मुख्य थे-वृजि तथा लिच्छवि। बौद्ध-दर्शन तथा प्राचीन भारतीय भूगोल के अधिकारी विद्वान् श्री भरतसिंह उपाध्याय ने अपने ग्रंथ (बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ 383-84 (हिन्दी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग संवत् 2018) में निम्नलिखित मत प्रगट किया है-"वस्तुतः लिच्छवियों और वज्जियों में भेद करना कठिन है, क्योंकि वज्जि न केवल एक अलग जाति के थे, बल्कि लिच्छवि आदि गणतन्त्रों को मिलाकर उनका सामान्य अभिधान वज्जि संघ की ही राजधानी थी बल्कि वज्जियों, लिच्छवियों तथा अन्य सदस्य गणतन्त्रों की सामान्य राजधानी भी थी। एक अलग जाति के रूप में वज्जियों का उल्लेख पाणिनि ने किया है और कौटिल्य ने भी उन्हें लिच्छवियों से पृथक् बताया है। यूआन चूआङ् ने भी वज्जि (फु-लि-चिह्) देश और वैशाली (फी-शे-ली) के बीच भेद किया है, परन्तु पालि त्रिपिटक के आधार पर ऐसा विभेद करना

सम्भव नहीं है। महापरिनिर्वाण-सूत्र में भगवान् कहते हैं, ''जब तक वज्जि लोग सात अपरिहाणीय धर्मों का पालन करते रहेंगे, उनका पतन नहीं होगा।'' परन्तु संयुत्त निकाय के कलिंगर सुत्त में कहते हैं, ''जब तक लिच्छवि लोग लकड़ी के बने तख्तों पर सोयेंगे और उद्योगी बने रहेंगे; तब तक अजातशत्रु उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।' इससे प्रगट होता है कि भगवान् बुद्ध वज्जि और लिच्छवि शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची अर्थ में ही करते थे। इसी प्रकार विनय-पिटक के प्रथम पाराजिक में पहले तो वज्जि प्रदेश में दुर्भिक्ष पड़ने की बात कही गई है (पाराजिक पालि, पृष्ठ 19, श्री नालन्दा-संस्करण) और आगे चल कर वहीं (पृष्ठ 22 में) एक पुत्रहीन व्यक्ति को यह चिंता करते दिखाया गया है कि कहीं लिच्छवि उनके धन को न ले लें। इससे भी वज्जियों और लिच्छवियों की अभिन्नता प्रतीत होती है।''

विद्वान् लेखक द्वारा प्रदर्शित इस अभिन्नता से मैं सहमत हूँ। इस प्रसंग में 'वज्जि' से बुद्ध का तात्पर्य लिच्छवियों से भी था और इसी आधार पर वज्जि संबंधी बुद्ध-वचनों की व्याख्या होनी चाहिए।

अन्य ग्रंथों में उल्लेख :

पाणिनि (500 ई.पू.) और कौटिल्य (300 ई.पू.) के उल्लेखों से भी वज्जि (वैशाली, लिच्छवि) गणतन्त्र की महत्ता तथा ख्याति का अनुमान लगाया जा सकता है। पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' में एक सूत्र है-भद्रवृज्जयोः कन् 4।2।31. इसी प्रकार, कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में दो प्रकार के संघों का अन्तर बताते हुए लिखा है-''काम्बोज, सुराष्ट्र आदि क्षत्रिय श्रेणियाँ कृषि, व्यापार तथा शस्त्रों द्वारा जीवन-यापन करती हैं और लिच्छविक, वृजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरु, पञ्चाल आदि श्रेणियाँ राजा के समान जीवन बिताती हैं।''[7]

रामायण तथा विष्णु पुराण के अनुसार, वैशाली नगरी की स्थापना इक्ष्वाकु-पुत्र विशाल द्वारा की गई है। विशाल नगरी होने के कारण यह

'विशाला' नाम से भी प्रसिद्ध हुई। बुद्धकाल में इसका विस्तार नौ मील तक था।[8] इसके अतिरिक्त, 'वैशाली, धन-धान्य-समृद्ध तथा जन-संकुल नगरी थी। इसमें बहुत से उच्च भवन, शिखर युक्त प्रासाद, उपवन तथा कमल-सरोवर थे। (विनय-पिटक एवं ललित विस्तर) बौद्ध एवं जैन-दोनों धर्मों के प्रारम्भिक इतिहास से वैशाली का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। ''ई.पू. पाँच सौ वर्ष पूर्व भारत के उत्तर पूर्व भाग में दो महान् धर्मो के 'महापुरुषों' की पवित्र स्मृतियाँ वैशाली में निहित हैं।''[9] बढ़ती हुई जनसंख्या के दबाव से तीन बार इसका विस्तार हुआ। तीन दीवारें इसे घेरती थीं। ''तिब्बती विवरण भी इसकी समृद्धि की पुष्टि करते हैं। तिब्बती विवरण (सुल्व 3।80) के अनुसार, वैशाली में तीन जिले थे। पहले जिले में स्वर्ण-शिखरों से युक्त 7000 घर थे, दूसरे जिले में चाँदी के शिखरों से युक्त 14000 घर थे तथा तीसरे जिले में ताँबे के शिखरों से युक्त 21000 घर थे। इन जिले में उत्तम, मध्यम तथा निम्न वर्ग के लोग अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार रहते थे। (राकहिल लाइफ आफ बुद्ध-पृष्ठ 62)[11]। प्राप्त विवरणों के अनुसार वैशाली की जनसंख्या 16800 थी।

क्षेत्र एवं निवासी :

जहाँ तक इसकी सीमा का सम्बन्ध है, गंगा नदी इसे मगध साम्राज्य से पृथक् करती थी। श्री रे चौधरी के शब्दों में, ''उत्तर दिशा में लिच्छवि-प्रदेश नेपाल तक विस्तृत था।'' श्री राहुल सांकृत्यायन के अनुसार, वज्जि प्रदेश मे आधुनिक चम्पारन तथा मुजफ्फरपुर जिलों के कुछ भाग, दरभंगा जिले का अधिकांश भाग, छपरा जिले के मिर्जापुर एवं परसा, सोनपुर पुलिस-क्षेत्र तथा कुछ अन्य स्थान सम्मिलित थे।

वषाढ़ में हुए पुरातत्व-विभाग के उत्खनन से इस स्थानीय विश्वास की पुष्टि होती है कि वहाँ राजा विशाल का गढ़ था। एक मुद्रा पर अंकित था-''वेशलि इनु..ट...कारे सयानक।'' जिसका अर्थ किया गया, ''वैशाली का एक भ्रमणकारी अधिकारी।'' इस खुदाई में जैन तीर्थंकरों की मध्यकालीन मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं।

वैशाली की जनसंख्या के मुख्य अंग थे-क्षत्रिय। श्री रे चौधरी के शब्दों में "कट्टर हिन्दू-धर्म के प्रति उनका मैत्री भाव प्रकट नहीं होता। इसके विपरीत, ये क्षत्रिय, जैन, बौद्ध जैसे अब्राह्मण सम्प्रदायों के प्रबल पोषक थे। मनुस्मृति के अनुसार, "झल्ल, मल्ल, द्रविड़, खस आदि के समान वे व्रात्य राजन्य थे।"[12] यह सुविदित है कि व्रात्य का अर्थ यहाँ जैन है, क्योंकि जैन साधु एवं श्रावक अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-इन पाँच व्रतों का पालन करते हैं। मनुस्मृति के उपर्युक्त श्लोकों में लिच्छवियों को 'निच्छवि' कहा गया है। कुछ विद्वानों ने लिच्छवियों को 'तिब्बती उद्गम' सिद्ध करने का प्रयत्न किया है परन्तु यह मत स्वीकार्य नहीं है। अन्य विद्वान् के अनुसार लिच्छवि भारतीय क्षत्रिय हैं, यद्यपि यह एक तथ्य है कि लिच्छवि-गणतन्त्र के पतन के बाद वे नेपाल चले गये और वहाँ उन्होंने राजवंश स्थापित किया।[13]

'लिच्छवि' शब्द की व्युत्पत्ति :

जैन-ग्रंथों में लिच्छवियों को 'लिच्छई' अथवा 'लिच्छवि' कहा गया है। व्याकरण की दृष्टि से, 'लिच्छवि' शब्द की व्युत्पत्ति 'लिच्छु', शब्द से हुई है। यह किसी वेश का नाम रहा होगा। बौद्ध ग्रंथ 'खुद्दकपाठ' (बुद्धघोषकृत) की अट्ठकथा में निम्नलिखित रोचक कथा है-काशी की रानी ने दो जुड़े हुए मांस-पिण्डों को जन्म दिया और उनको गंगा नदी में फिकवा दिया। किसी साधु ने उनको उठा लिया और उनका स्वयं पालन-पोषण किया। वे निच्छवि (त्वचा-रहित) थे। कालक्रम से उनके अंगों का विकसित हुआ और वे बालक-बालिका बन गये। बड़े होने पर वे दूसरे बच्चों को पीड़ित करने लगे, अतः उन्हें दूसरे बालकों से अलग कर दिया है। (वज्जितव्व-वर्जितव्य)। इस प्रकार ये 'वज्जि' नाम से प्रसिद्ध हुए। साधु ने उन दोनों का परस्पर विवाह कर दिया और राजा से 300 योजन भूमि उनके लिए प्राप्त की। इस प्रकार उनके द्वारा शासित प्रदेश 'वज्जि-प्रदेश' कहलाया।"

सात धर्म :

मगधराज अजात-शत्रु साम्राज्य-विस्तार के लिए लिच्छवियों पर आक्रमण

करना चाहता था। उनके अपने मंत्री वस्सकार (वर्षकार) को बुद्ध के पास भेजते हुए कहा-'हे ब्राह्मण! भगवान् बुद्ध के पास जाओ और मेरी ओर से उनके चरणों में प्रणाम करो। मेरी ओर से उनके आरोग्य तथा कुशलता के विषय में पूछ कर उनसे निवेदन करो कि वैदेही-पुत्र मगधराज अजातशत्रु ने वज्जियों पर आक्रमण का निश्चय किया है और मेरे ये शब्द कहो-''वज्जि-गण चाहे कितने शक्तिशाली हों, मैं उनका उन्मूलन करके पूर्ण विनाश कर दूँगा। इसके बाद सावधान होकर भगवान् तथागत के वचन सुनो।''[14] और आकर मुझे बताओ। तथागत का वचन मिथ्या नहीं होता।

अजात शत्रु के मंत्री के वचन सुनकर बुद्ध ने मंत्री को उत्तर नहीं दिया बल्कि अपने शिष्य आनन्द से कुछ प्रश्न पूछे और तब निम्नलिखित सात अपरिहानीय धर्मो (धम्म) का वर्णन किया[15]-

1. अभिण्हं सन्निपाता सन्निपाता बहुला भविस्संति।

-हे आनन्द! जब तक वज्जि पूर्ण रूप से निरन्तर परिषदों के आयोजन करते रहेंगे!

2. समग्गा सन्निपातिस्संति समग्गा वुट्ठ-हिस्संति समग्गा संघकरणीयानि करिस्संति।

-जब तक वज्जि संगठित होकर मिलते रहेंगे, संगठित होकर उन्नति करते रहेंगे तथा संगठित होकर कर्तव्य कर्म करते रहेंगे।

3. अप्पज्ञंत न पज्जापेस्संति, पज्ञतं न समुच्छिन्दिस्संति-यथा, पज्ञत्तेषु सिक्खापदेसु समादाय वत्तस्संति।

-जब तक वे अप्रज्ञप्त (अस्थापित) विधाओं को स्थापित न करेंगे। स्थापित विधानों का उल्लंघन न करेंगे तथा पूर्वकाल में स्थापित प्राचीन वज्जि-विधानों का अनुसरण करते रहेंगे;

4. ये ते संघपितरो संघपरिणायका ते सक्करिस्संति गरु करिस्संति मानेस्संति

पूजेस्संति तेसञ्च सोत्तब्बं मञ्जिस्संति।

—जब तक तक वे वज्जि-पूर्वजों तथा नायकों का सत्कार, सम्मान, पूजा तथा समर्थन करते रहेंगे तथा उनके वचनों को ध्यान से सुन कर मानते रहेंगे;

5. ये ते वज्जीनं वज्जिमहल्लका ते सक्करिस्संति, गुरु करिस्सन्ति मानेस्संति, पूजेस्संति, या ता कुलित्थियो कुलकुवारियों ता न आक्कस्स पसह्य वास्सेनित।

—जब तक वे वज्जि-कुल की महिलाओं का सम्मान करते रहेंगे और कोई भी कुलस्त्री या कुल-कुमारी उनके द्वारा बल पूर्वक अपहृत या निरुद्ध नहीं की जायेंगी;

6. वज्जि चेतियानि इव्भंतरानि चेव बाहिरानि च तानि सक्करिस्संति, गरु करिस्संति, मानेस्संति, पूजेस्संति, तेसञ्च दिन्नपुब्बं कतपुव्वं धाम्मिकं बलि नो परिहास्संति नो परिहापेस्संति।

—जब तक वे नगर या नगर से बाहर स्थित-चैत्यों (पूजा-स्थलों) का आदर एवं सम्मान करते रहेंगे और पहले दी गई धार्मिक बलि तथा पहले किए गए धार्मिक अनुष्ठानों की अवमानना न करेंगे;

7. वज्जीनं अरहंतेसु धम्मिका रक्खावरण-गुत्ति सुसंविहिता भविस्संति।

जब तक वज्जियों द्वारा अरहन्तों को रक्षा, सुरक्षा एवं समर्थन प्रदान किया जायेगा; तब तक वज्जियों का पतन नहीं होगा, अपितु उत्थान होता रहेगा।''

आनन्द को इस प्रकार बताने के बाद बुद्ध ने वस्सकार से कहा, ''मैंने ये कल्याणकारी सात धर्म वज्जियों को वैशाली में बताये थे।'' इस पर वस्सकार ने बुद्ध से कहा, 'हे गौतम! इस प्रकार मगधराज वज्जियों को युद्ध में तब तक नहीं जीत सकते, जब तक कि वह कूटनीति द्वारा उनके संगठन को न तोड़ दें।'' बुद्ध ने उत्तर दिया, ''तुम्हारा विचार ठीक है।'' इसके बाद वह मंत्री चला गया।

वस्सकार के जाने पर बुद्ध ने आनन्द से कहा-"राजगृह के निकट रहने वाले सब भिक्षुओं को इकट्ठा करो।" तब उन्होंने भिक्षु-संघ के लिए निम्नलिखित सात धर्मों का विधान किया-

1. हे भिक्षुओं! जब तक भिक्षु-गण पूर्ण रूप से निरन्तर परिषदों में मिलते रहेंगे;

2. जब तक वे संगठित होकर मिलते रहेंगे, उन्नति करते रहेंगे तथा संघ के कर्तव्यों का पालन करते रहेंगे;

3. जब तक वे किसी ऐसे विधान को स्थापित नहीं करेंगे जिसकी स्थापना पहले न हुई हो, स्थापित विधानों का उल्लंघन नहीं करेंगे तथा संघ के विध ानों का अनुसरण करेंगे।

4. जब तक वे संघ के अनुभवी गुरुओं, पिता तथा नायकों का सम्मान तथा समर्थन करते रहेंगे तथा उनके वचनों को ध्यान से सुनकर मानते रहेंगे;

5. जब तक वे उस लोभ के वशीभूत न होंगे जो उनमें उत्पन्न होकर दुःख का कारण बनता है।

6. जब तक वे संयमित जीवन में आनन्द का अनुभव करेंगे;

7. जब तक वे अपने मन को इस प्रकार संयमित करेंगे जिससे पवित्र एवं उत्तम पुरुष उनके पास आयें और आकर सुख-शान्ति प्राप्त करें;

तब तक भिक्षु-संघ का पतन नहीं होगा, उत्थान ही होगा। जब तक भिक्षुओं में ये सात धर्म विद्यमान हैं, जब तक वे इन धर्मों में भली-भाँति दीक्षित हैं, तब तक उनकी उन्नति होती रहेगी।

महापरिनिब्बान सुत्त के उपर्युक्त उद्धरण से वैशाली-गणतन्त्र की उत्तम व्यवस्था एवं अनुशासन की पुष्टि होती है। वैशाली के लिए विहित सात धर्मों को (कुछ परिवर्तित करके) बुद्ध ने अपने संघ के लिए भी अपनाया; इससे

स्पष्ट है कि 2600 वर्ष पूर्व के प्राचीन गणतन्त्रों में वैशाली गणतन्त्र श्रेष्ठ तथा योग्यतम था।

लिच्छवियों के कुछ अन्य गुणों ने उन्हें महान् बनाया। उनके जीवन में आत्म-संयम की भावना थी। वे लकड़ी के तख्त पर सोते थे, वे सदैव कर्तव्यनिष्ठ रहते थे। जब तक उनमें ये गुण रहे, अजातशत्रु उनका बाल बाँका भी न कर सका।[17]

शासन-प्रणाली :

लिच्छवियों के मुख्य अधिकारी थे-राजा, उपराजा, सेनापति तथा भाण्डागारिक। इनमें ही संभवत: मन्त्रिमंडल की रचना होती थी। केन्द्रीय संसद का अधिवेशन नगर के मध्य स्थित सन्थागार (सभा-भवन) में होता था। शासन-शक्ति संसद के 7707 सदस्यों ('राजा' नाम से युक्त) में निहित थी।[18] संभवत: इनमें से कुछ 'राजा' उग्र थे और एक दूसरे की बात नहीं सुनते थे। इसी कारण ललितविस्तर-काव्य में ऐसे राजाओं की मानो भर्त्सना की गई है-''इन वैशालिकों में उच्च, मध्य, वृद्ध एवं ज्येष्ठ जनों के सम्मान के नियम का पालन नहीं होता। प्रत्येक स्वयं को 'राजा' समझता है। 'मैं राजा हूँ! मैं राजा हूँ!' कोई किसी का अनुयायी नहीं बनता।[19] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कुछ महत्त्वाकांक्षी सदस्य गणराजा (अध्यक्ष) बनने के इच्छुक थे।

संसत्सदस्यों की इतनी बड़ी संख्या से कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वैशाली की सत्ता कुछ कुलों (7707) में निहित थी और इसे केवल 'कुल-तन्त्र' कहा जा सकता है। इस मान्यता का आधार यह तथ्य है कि 7707, राजाओं का अभिषेक एक विशेषतया सुरक्षित सरोवर (पुष्करिणी) में होता था।[20] स्वर्गीय प्रो. आर.डी. भण्डारकर का निष्कर्ष था-''यह निश्चित है कि वैशाली संघ के अंगीभूत कुछ कुलों का महासंघ ही यह गणराज्य था।'' श्री जायसवाल तथा श्री अल्तेकर जैसे राजशास्त्र विद इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं। श्री जायसवाल ने 'हिन्दू राजशास्त्र' (पृष्ठ 44) में लिखा है-''इस

साक्ष्य से उन्हें 'कुल शब्द से सम्बोधित करना आवश्यक नहीं। छठा-शताब्दी ई.पू. के भारतीय गणतन्त्र बहुत पहले समाज के जन-जातीय स्तर से गुजर चुके थे। ये राज्य, गण और संघ थे, यद्यपि इनमें से कुछ का आधार राष्ट्र या जनजाति था; जैसा कि प्रत्येक राज्य-प्राचीन या आधुनिक का होता है।

डॉ. ए.एस. अल्तेकर का यह उद्धरण विशेषत: द्रष्टव्य है-यह स्वीकार्य है कि यौधेय, शाक्य, मालव तथा लिच्छवि गणराज्य आज के अर्थों में लोकतन्त्र नहीं थे। अधिकांश आधुनिक विकसित लोकतन्त्रों के समान सर्वोच्च एवं सार्वभौम शक्ति समस्त वयस्क नागरिकों की संस्था में निहित नहीं थी। फिर भी इन राज्यों को हम गणराज्य कह सकते हैं।...स्पार्टा ऐथेन्स, रोम, मध्य-युगीन वेनिस, संयुक्त नीदरलैण्ड और पोलैण्ड को 'गणराज्य' कहा जाता है; यद्यपि इनमें से किसी में पूर्ण लोकतन्त्र नहीं था। इस सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि तथा ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर निश्चय ही प्राचीन भारतीय गणराज्यों को उन्हीं अर्थों में गणराज्य कहा जा सकता है किजस अर्थ में यूनान तथा रोम के प्राचीन राज्यों को गणराज्य कहा जाता है। इन राज्यों में सार्वभौम सत्ता किसी एक व्यक्ति या अल्पसंख्यक वर्ग को न मिलकर बहुसंख्यक वर्ग को प्राप्त थी।''[21]

महाभारत में भी 'प्रत्येक घर में राजा' होने का वर्णन है।[22] उपर्युक्त विद्वान् के मतानुसार, ''इस वर्णन में छोटे गणराज्यों की तथा उन क्षत्रिय कुलों की चर्चा है जिन्होंने उपनिवेश स्थापित करके राजपद प्राप्त किया था। संयुक्त राज्य अमरीका में मूल उपनिवेश स्थापकों को नवागन्तुकों की अपेक्षा कुछ विशेषाधि कार प्राप्त किए।

'मलाबार गजटियर' के आधार पर श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने 'नय्यरों के एक संघ' की ओर ध्यान आकर्षित किया है जिसमें 6000, प्रतिनिधि थे। वे केरल की संसद के समान थे।[23] बौद्ध-साहित्य से ज्ञात होता है कि राजा बिम्बिसार श्रेणिक के अस्सी हजार गामिक (ग्रामिक) थे। इसी सादृश्य पर अनुमान किया जा सकता है कि 7707, राजा विभिन्न क्षेत्रों (या निर्वाचन-क्षेत्रों)

के उसी रूप में स्वतन्त्र संचालक थे जिस प्रकार देशी रियासतों के जागीरदार राजा के आधीन होकर भी अपनी निजी पुलिस की तथा अन्य व्यवस्थाएँ करते थे।

वैदेशिक सम्बन्ध-लिच्छवियों के वैदेशिक सम्बन्धों का नियन्त्रण नौ सदस्यों की परिषद् द्वारा होता था। इनका वर्णन बौद्ध एवं जैन साहित्य में 'नव लिच्छवि' के रूप में किया गया है। अजात शत्रु के आक्रमण के मुकाबले के लिए इन्हें पड़ोसी राज्यों नवमल्ल तथा अष्टादश काशी-कौशल के साथ मिलकर महासंघ बनाना पड़ा। उन्होंने अपने संदेश भेजने के लिए दूत नियुक्त किए (वैशालिकानां लिच्छिविनां वचनेन)।

न्याय व्यवस्था

न्याय-व्यवस्था अष्टकुल सभा के हाथ में थी। श्री जायसवाल ने 'हिन्दू राजशास्त्र' (पृष्ठ 43-47) में इनकी न्याय प्रक्रिया का निम्नलिखित वर्णन किया है-"विभिन्न प्रकरणों (पवे-पट्ठकान) पर गणराजा के निर्णयों का विवरण सावधानी पूर्वक रखा जाता था जिनमें अपराधी नागरिकों के अपराध ों तथा उनके दिए गए दण्डों का विवरण अंकित होता था। विनिश्चय महामात्र (न्यायालयों) द्वारा प्रारम्भिक जाँच की जाती थी। (ये साधारण अपराधों तथा दीवानी प्रकरणों के लिए नियमित न्यायालय थे)। अपील-न्यायालयों के अध्यक्ष थे-वोहारिक (व्यवहारिक)। उच्च न्यायालय के न्यायाधीश 'सूत्रधार' कहलाते हैं। अन्तिम अपील के लिए 'अष्ट-कुलक' होते थे। इनमें से किसी भी न्यायालय द्वारा नागरिक को निरपराध घोषित करके मुक्त किया जा सकता था। यदि सभी न्यायालय किसी को अपराधी ठहराते तो मन्त्रिमण्डल का निर्णय अन्तिम होता था।

विधायिका

लिच्छवियों के संसदीय विचार-विमर्श का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त नहीं होता, परन्तु विद्वानों ने चुल्लवग्ग एवं विनय-पिटक के विवरणों से इस विषय

में अनुमान लगाए हैं। जब कोसलराज ने शाक्य-राजधानी पर आक्रमण किया और उनसे आत्म समर्पण के लिए कहा तो शाक्यों द्वारा इस विषय पर मद-दान किया गया। मत-पत्र को 'छन्दस्' एवं कोरम को 'गण-पूरक' तथा आसनों के व्यवस्थापक को 'आसन-प्रज्ञापक' कहा जाता था। गण-पूरक के अभाव में अधिवेशन अनियमित समझा जाता था। विचारार्थ प्रस्ताव की प्रस्तुति को 'ज्ञप्ति' कहा जाता था। संघ से तीन-चार बार पूछा जाता था कि क्या संघ प्रस्ताव से सहमत है। संघ के मौन का अर्थ सहमति या स्वीकृति समझा जाता था। बहुमत द्वारा स्वीकृत निर्णय को 'ये भुय्यसिकम्' (बहुमत की इच्छानुसार) कहा जाता था। मतपत्रों को 'शलाका' तथा मत-पत्र-गणक को 'शलाका-ग्राहक' कहा जाता था। अप्रासंगिक तथा अनर्थक भाषणों की भी शिकायत की जाती थी।

श्री जायसवाल के मतानुसार, ''सुदूर अतीत (छठी शताब्दी ई.पू.) से गृहीत इस विचारधारा से 'एक उच्चत: विकसित अवस्था की विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इसमें भाषा की पारिभाषिकता एवं औपचारिकता विधि एवं संविधान की अन्तर्निहित धारणाएँ उच्च स्तर की प्रतीत होती हैं। इसमें शताब्दियों से प्राप्त पूर्व अनुभव भी सिद्ध होता है। ज्ञप्ति, प्रतिज्ञा, गण-पूरक, श्लाका, बहुमत-प्रणाली आदि शब्दों का उल्लेख, किसी प्रकार की परिभाषा के बिना किया गया है, जिससे इनका पूर्व प्रचलन सिद्ध होता है।

वैशाली-गणतन्त्र का अन्त

वैशाली-गणतन्त्र पर मगधराज अजात शत्रु का आक्रमण इस पर घातक प्रहार था। अजातशत्रु की माता चेलना वैशाली के गणराजा चेटक की पुत्री थी, तथापि साम्राज्य विस्तार की उसकी आकांक्षा ने वैशाली का अन्त कर दिया। बुद्ध से भेंट के बाद मन्त्री वस्सकार को अजातशत्रु द्वारा वैशाली में भेजा गया। वह मन्त्री वैशाली के लोगों में मिल कर रहा और उसने उसमें फूट के बीज बो दिए। व्यक्तिगत महात्त्वाकांक्षाओं तथा फूट से इतने महान् गणराज्य का विनाश हुआ। 'महाभारत' में भी गणतन्त्रों के विनाश के लिए ऐसे ही कारण बताए हैं। भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से कहा, 'हे राजन्! हे भरतर्षभ! गणों एवं

राजकुलों में शत्रुता की उत्पत्ति के मूल कारण हैं-लोभ एवं ईर्ष्या-द्वेष! कोई (गण या कुल) लोभ के वशीभूत होता है, तब ईर्ष्या का जन्म होता है और दोनों के मेल से पारस्परिक विनाश होता है।"

वैशाली पर आक्रमण के अनेक कारण बताए गए हैं। एक जैन कथानक के अनुसार, सेयागम (सेचानक) नामक हाथी द्वारा पहना गया 18 शृंखलाओं का हार इसका मूल कारण था। बिम्बसार ने इसे अपने एक पुत्र वेहल्ल को दिया था परन्तु अजातशत्रु इसे हड़पना चाहता था। वेहल्ल हाथी और हार के साथ अपने नाना चेटक के पास भाग गया। कुछ लोगों के अनुसार, रत्नों की एक खान ने अजातशत्रु को आक्रमण के लिए ललचाया। यह भी कहा जाता है कि मगध-साम्राज्य तथा वैशाली-गणराज्य की सीमा गंगा-तट पर चुंगी के विभाजन के प्रश्न पर झगड़ा हो गया। अस्तु, जो भी कारण हो; इतना निश्चिय है कि अजातशत्रु ने इसके लिए बहुत समय से बड़ी तैयारियाँ की थीं। सर्वप्रथम उसने गंगा-तट पर पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) की स्थापना की। जैन विवरणों के अनुसार, यह युद्ध सोलह वर्षो तक चला, अन्त में वैशाली गणतन्त्र मगध-साम्राज्य का अंग बन गया।

क्या वैशाली-गणराज्य के पतन के बाद लिच्छवियों का प्रभाव समाप्त हो गया? इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक हो सकता है परन्तु श्री सालेतोर (वही पृष्ठ 508) के अनुसार, "बौद्ध साहित्य में इनका सबसे अधिक उल्लेख हुआ है क्योंकि इतिहास में एक हजार वर्षो से अधिक समय तक इनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रही।" श्री रे चौधरी के अनुसार, "ये नैनपाल में 7वीं शताब्दी में क्रियाशील रहे। गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त 'लिच्छवि-दौहित्र' कहलाने में गौरव का अनुभव करते थे।"

2500 वर्ष पूर्व महावीर-निर्वाण के अनन्तर, नवमल्लों एवं लिच्छवियों ने प्रकाशोत्सव तथा दीपमालिका का आयोजन किया और तभी से शताब्दियों से जैन इस पुनीत पर्व को 'दीपावली' के रूप में मनाते हैं। कल्प-सूत्र के शब्दों में, "जिस रात भगवान् महावीर ने मोक्ष प्रापत किया, सभी प्राणी दु:खों से

मुक्त हो गए। काशी-कौशल के अठारह संघीय राजाओं, नव मल्लों तथा नव लिच्छवियों ने चन्द्रोदय (द्वितीया) के दिन प्रकाशोत्सव आयोजित किया; क्योंकि उन्होंने कहा-'ज्ञान की ज्योति बुझ गई है, हम भौतिक संसार को आलोकित करें।

2500वें महावीर-निर्वाणोत्सव के सन्दर्भ में आधुनिक भारत वैशाली से प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। अनेक सांस्कृतिक कार्य-कलाप वैशाली पर केन्द्रित हैं। इसी को दृष्टिगत करके राष्ट्र-कवि स्व. श्री रामधारी सिंह दिनकर ने वैशाली के प्रति श्रद्धांजलि निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत की है-

वैशाली जन का प्रतिपालक, गण का आदि विधाता।
जिसे ढूंढ़ता देश आज, उस प्रजातन्त्र की माता।।
रुको एक क्षण, पथिक! यहाँ मिट्टी को सीस नवाओ।
राज-सिद्धियों की सम्पत्ति पर, फूल चढ़ाते जाओ।।

सन्दर्भ

1. मुनि नथमल-श्रमण महावीर, पृ. 303
2. इदं पच्छिमकं आनन्द! तथागतस्स बेसालिदस्सनं भविस्यति।
3. उपाध्याय श्री मुनि विद्यानन्द-कृत 'तीर्थंकर वर्धमान' से उद्धृत-

   यं स भिक्खवे! भिक्खनं देवा तावनिसा अदिट्ठा,
   अलोकेथ भिक्खवे! लिच्छवनी परिसं, अपलोकेथ।
   भिक्खवे! लिच्छवी परिसरं! उपसंहरथ भिक्खवे।
   लिच्छवे! लिच्छवी परिसरं तावनिसा सदसन्ति।।

4. श्री काशी प्रसाद जायसवाल-'हिन्दू पोलिटी'-पृष्ठ 40. (चतुर्थ संस्करण)
5. पुरातत्व-निबन्धावली-20
6. रे चौधुरी, पोलिकटकल हिस्ट्री ऑफ ऐंशियेंट इण्डिया-कलकत्ता विश्वविद्यालय, छठा संस्करण, 1953, पृष्ठ 95।

7. काम्बोज सुराष्ट्र क्षत्रिय श्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविन: लिच्छिविक-वृजिक-मल्लक-कुकुर-पाञ्चालादयो राजशब्दोपजीविन:।

8. बी.ए. सालेतोर-ऐंशियेंट इण्डियन पोलिटिकल थौट एण्ड इन्स्टीट्यूशंस (1963) पृष्ठ 509.

9. बी.सी. ला-हिस्टोरिकल ज्योग्रैफी ऑफ ऐंशियेंट इण्डिया, फाइनेंस' में प्रकाशित (1954) पृष्ठ 266।

11. वही-पृष्ठ 266-67।

12. झल्लो मल्लाश्च राजन्या: व्रात्यानि लिच्छिविरेवधो नटश्च करणश्च खसो द्रविण एव च। 10।22

13. भरतसिंह उपाध्याय-वही-पृष्ठ 33।

14. री डेबिड्स (अनुवाद) बुद्ध-सुत्त (सेक्रिड-बुक्स ऑफ ईस्ट-भाग 11-मोतीलाल बनारसीदास, देहली पृष्ठ 2-3-4।

15. पालि-पाठ राधाकुमुद मुखर्जी के ग्रन्थ 'हिन्दू सभ्यता' (अनुवादक-डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल) द्वितीय संस्करण 1958-पृष्ठ 199-200 से उद्धृत। नियम संख्या मैंने दी है।

16. वही-पृष्ठ 6-7।

17. देखिए श्री भरतसिंह उपाध्याय-कृत 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल' (पृष्ठ 385-86) का निम्नलिखित उद्धरण (''संयुक्त निकाय पृष्ठ 308 से उद्धृत। ''भिक्षुओं! लिच्छवि लकड़ी के बने तख्ते पर सोते हैं। अप्रमत्त हो, उत्साह के साथ अपने कर्तव्य को पूरा करते हैं। मगधराज वैदेही-पुत्र अजातशत्रु उनके विरुद्ध कोई दाव-पेंच नहीं पा रहा है। भिक्षुओं! भविष्य में लिच्छवि लोग बड़े सुकुमार और कोमल हाथ-पैर वाले हो जायेंगे। वे गद्देदार विछावन पर गुलगुले तकिए लगाकर दिन चढ़े तक सोये रहेंगे। तब मगधराज वैदेहि-पुत्र अजातशत्रु को उनके दाँव-पेंच मिल जायेगा।''

18. तस्य निच्चकालं रज्जं कारेत्वा वसंमानं येव राजन सतसहस्सानि सतसतानि तत्र च। राजानो होंति तत्त का, ये व उपराजाओं तत्तका, सेनापतिनो तत्तका, तत्तका भंडागारिका। J I.S O.4.

19. नोच्च-मध्य-वृद्ध-ज्येष्ठानुपालिता, एकैक एव मन्यते अहं राजा, अहं राजेति, न च कस्यच्छिष्यत्वमुपगच्छति।

20. वैशाली-नगरे गणराजकुलानां अभिषेकमंगलपोखरिणी-जातक 4।148

21. डॉ. ए.एस. अल्तेकर-प्राचीन भारत में राज्य एवं शासन (1958) पृष्ठ 112-113

22. गृहे-गृहे तु राजानः-महाभारत 2।15।2

23. वाजपेयी, अम्बिका प्रसाद, हिन्दू राज्यशास्त्र-पृष्ठ 104।

24. ''तेन रयो पन समयेन राजा मागधो सेनियो बिम्बसारो असीतिया नाम सहस्सेषु इस्सराधिपच्च राजं करोति।''
श्री भरतसिंह उपाध्याय द्वारा उद्धृत-वही-पृष्ठ-169

25. वही-पृष्ठ 95-96।

26. वही-पृष्ठ 106 पर उद्धृत।

निवास-बी-1/324, जनकपुरी,
नई दिल्ली-110058

●●

ववहारो भूदत्थो

- जस्टिस एम.एल. जैन

"जो सत्यारथ रूप सुनिश्चय, कारण सो व्यवहारो"

-छहढाला, ढाल तीसरी

इस लेख की पृष्ठभूमि है--श्री रूपचन्द कटारिया द्वारा सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर के तत्त्वावधान में प्रकाशित समय पाहुड का प्रथम संस्करण, सन् 2000।

भूत सृष्टि का एक अंग है मानव! मानव में होता है ऐसा दिमाग जिसका प्रतिपल विकास, मार्जन-परिमार्जन होता आया है। यह (नाम कर्म जनित) ऐसे पुद्गलों का संघात है जिनमें सोचने की शक्ति निहित होती है जो तब तक ही काम करती है, जब और जब तक उनमें आत्म प्रदेश (जीव) बने रहते हैं। यह बात पाँच इंद्रियों से आगे की है जिसे अतींद्रिय कहते हैं और इसे ही मन भी कहते हैं और आत्म प्रदेशों के पारिमाणिक भाव भी यही हैं। इसकी एक खूबी यह है कि वह अन्य बातों के साथ यह भी जानना चाहता है कि आखिर वह स्वयं है क्या! दूसरों के मरण से इतना उसकी समझ में आया कि जीव और अजीव के संयोग से बना है, या बना रहता है जीवन। और दिमाग है उसी जीवन का एक हिस्सा। अब यह जीव है क्या चीज़। क्यों और कैसे होता है अजीव से जीव का संयोग-वियोग। जब यह वह सोचने लगा तो दिमाग़ में अलग-अलग सोच आने लगे। एक चिन्तक ने कहा कि यह सब करती है कोई जीवोत्तर शक्ति और उसे उसने नाम दिया, ईश्वर। इसलिए उस शक्ति को जानना और खुश रखना जरूरी हो गया और यदि ईश्वर ही सब कुछ करता है, तो फिर उसे कई नाम दिए गए। एक अन्य चिन्तक ने आगे सोचा कि यदि ऐसा है तो फिर इस ईश्वर का कर्ता कौन? इसका जवाब न मिलने पर आगे उसने सोचा कि ईश्वर एक कल्पना मात्र है और दर असल जीव स्वयं ही सब कुछ है। वही है मूल और जब वह अपने ही परिणामों से अजीव से सम्पर्क

करता है और ऐसे जीव अनन्त है, तो इसका नतीजा होता है संसार। आगे चिन्तन किया किया, तो पाया कि अजीव संसार अनन्त परमाणुओं से बना है जिसमें ऐसे परमाणु हैं जो दुःख-सुख, जीवन-मरण आदि के कारण हैं, किन्तु उनको नाम दिया कर्म। अब जब मानव ने यह जान लिया तो फिर जरूरी हो गया यह पता करना कि इनसे कैसे पीछा छुड़ाया जाए तो जन्म हुआ उस चिन्तन समूह का जिसे कहते हैं दर्शन यानि जो कुछ देखा, सोचा, समझा व अनुभव किया उसका रिकार्ड। जब उस दर्शन का केन्द्र बिन्दु बना जीव तो उसे कहा गया जीवन-दर्शन और जब जीव को आत्मा नाम दिया तो जन्मा अध्यात्म दर्शन। क्यों किया यह सब इसलिए कि चिन्तक स्वयं तो समझे ही, परन्तु अपने साथियों को भी समझाए व समझाने लगा तो बना शास्त्र और धीरे-धीरे उसका इतना अम्बार लगा कि जरूरी हो गया उसका वर्गीकरण-एक वर्ग का नाम रखा "प्राभृत" परन्तु इस सब को जानना सबके बस की बात नहीं तो कोशिश हुई उसका भी सार अंश ढूंढ़ने की और यों सामने आया अध्यात्म का सार और उसे नाम मिला समयसार! कुन्दकुन्द ने जो समयसार (समय प्राभृत) लिखा। उस समयसार का सार यह है कि आत्मा एक शुद्ध द्रव्य है जो केवल ज्ञाता है। कर्ता नहीं भोक्ता नहीं, दृष्टा भी नहीं। अध्यात्मोपरिनषद् भी यही कहता है-

अकर्ताऽहमभोक्ताऽहमविकारोऽहममव्ययपी।
शुद्धबुद्धस्वरूपोऽहम् केवलोऽहम्. सदाशिवः॥
रचानुभूत्या स्वयं ज्ञात्वा स्वमात्मानं खण्डितम्।
स सिद्धः सुसुखं तिष्ठन् निर्विकल्पात्मनाऽऽत्मनि॥

मैं कर्त्ता नहीं हूँ, मैं भोक्ता नहीं हूँ, मैं विकार रहित हूँ, मैं अव्यय हूँ, मैं शुद्ध बुद्ध स्वरूप हूँ, मैं केवली सदा शिव हूँ। जो अपने अनुभव से स्वयं ही अपनी आत्मा को अखण्डित जानकर निर्विकार आत्मा द्वारा आत्मा में स्थित हो, वह सुखी व सिद्ध है। यह सब बस अनुभव की वस्तु है। इसे शब्दों में वर्णन करना अत्यन्त कठिन काम है, परन्तु परस्पर सम्प्रेषण के लिए यह जरूरी है कुछ संकेतों का, कुछ ध्वनियों का प्रयोग हो जिनको कहते हैं अक्षर, शब्द। इन शब्दों का समूह है पद और पदों से बनती है भाषा और भाषा द्वारा

शब्दातीत का वर्णन करना ही व्यवहार है। सारा वाङ्मय व्यवहार ही है। जब एकान्त का हठ न हो तो यही अनेकान्त है और अनेकान्त का ही नाम है सम्यक् ज्ञान। अनुभव यह हुआ कि आत्मा तो अनन्त धर्मा है तो फिर उसे पहचानने के भी अनन्त तरीके होंगे ही। इन्हीं को दार्शनिक परिभाषा में नय कहा जाता है। इसी कारण जिनवाणी विविध नय कल्लोल विमला है। समन्तभद्र का कहना है-

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रामण नय साधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥

प्रमाण से अनेकान्त की और अर्पितनय से एकान्त की सिद्धि होती है। प्रमाण व नय से सिद्ध होने के कारण ही जैन दर्शन का अनेकान्त (असली) अनेकान्त है।

कुन्दकुन्द ने कोई नई खोज नहीं की है। श्रुतकेवलियों ने अपने पूर्ववर्ती चिन्तकों के जो अनुभव सुने थे, पढ़े थे और अपने स्वयं के जो अनुभव हुए थे उन्हीं को कुन्दकुन्द ने हमारे हितार्थ लिखा है, परम्परा और अपना अनुभव दोनों। परन्तु उनने इस सारे दर्शन को व्यवहार नय और निश्चय नय के ज़र्ये व्याख्यायित किया। इसका नतीजा यह हुआ कि बाद के आचार्यो और पंडितों में एक विवाद पैदा हो गया इस बात पर कि कौन सा नय सही है और उपादेय है। उस विवाद में असली तत्त्व आत्मा को जैसे सब भूल गए। इसको साफ करने के लिए कहा गया कि-

जावदिया वयणविहा तावदिया होंतिणयवादा
जावदिया णयवादा तावदिया होंति पर समये। -सम्मइ सुत्त 3/47
पर समयं वयणं मिच्छे खलु होंदि सव्वहा वयणा
जइणाणं पुण वयणं सम्मं दु कहंचि वयणादो। गो.क. 894/895

जितने वचन हैं उतने ही नय हैं, जितने नय हैं उतने ही पर समय हैं। यदि जो एक नय को सर्वथा माने, तो वचन पर समय मिथ्या होता है और यदि कथंचिद् माना जाए, तो सम्यक् होता है। अमृतचन्द्र ने प्रवचन सार की टीका में अनेक नयों में से जो अक्सर काम में, व्यवहार में आते हैं उनमें से 47

गिनाकर उनको प्रमुख माना है। उनके सामने समस्या आई कि क्या ये सब नय पर-समय हैं और क्या वास्तव में वे मिथ्या हैं। यदि नयों को मिथ्या कहते हैं तो जिनवाणी ही मिथ्या हो जाती है-अतः उन्होंने कहा कि नहीं, ऐसी बात नहीं है क्योंकि-

उभयनय विरोध ध्वंसिनी स्यात् पदांके
जिनवचसि रम्यते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परंज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंतएव

जो वान्त मोह उस जिनवाणी में प्रीतिपूर्वक अभ्यास करते हैं जो निश्चय और व्यवहार के भेद को ध्वस्त करने के लिए स्यात् पद से अंकित है, वे उस परंज्योति अनव, अनयपक्ष, अक्षुण्ण आत्मतत्व को शीघ्र ही देख लेते हैं।

कुन्दकुन्द ने भी कहा ही है कि लोगों को आत्मा का स्वरूप समझाने के लिए व्यवहार की भाषा का प्रयोग कर रहा हूँ। परन्तु इसका अर्थ क्या यह होता है कि व्यवहार के द्वारा प्रगट किए विचार सही नहीं हैं या कि स्वयं कुन्दकुन्द ऐसा सोचते थे कि व्यवहार असत्यार्थ है? इस भ्रम को दूर करने के लिए कुन्दकुन्द ने तो कहा कि-

तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं

व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है।

किन्तु जान पड़ता है कि फिर भी कोई भ्रांतियां पैदा न हों, इसलिए उन्होंने साफ घोषणा की कि-

ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ?
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो
सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभाव दरसीहिं
ववहार देसिदो पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे

इन गाथाओं का सीधा अर्थ है कि व्यवहार भूतार्थ है और जो भूतार्थ है वह शुद्ध नय भी है और जो भूतार्थ का सहारा लेता है वह जीव निश्चय ही

सम्यक् दृष्टि होता है। जिनका लक्ष्य परम (सिद्ध) भाव है उनके लिए शुद्ध केवल शुद्ध का ही आदेश है। यानि जो परमभाव में स्थित है उसे किसी उपदेश की जरूरत नहीं। शेष के लिए (याने जो परमभाव में स्थित नहीं है उनके लिए) उपदेश व्यवहार से ही दिया जाता है। मगर यहीं से विवाद का प्रारंभ होता है। कुछ मनीषी यह कहते हैं कि इस गाथा में शब्द दर असल अभूतार्थ है और कुछ तो प्राकृत के नियमों की अवहेलना करके गाथा में ही अकार के पूर्व लोप का निशान ऽ बनाते हैं। परन्तु यह सुधार, यह मन्तव्य सही नहीं है। इसका कोई आधार नहीं है। फिर भी टीकाकारों ने भूदत्थो को अभूदत्थो यानि व्यवहार अभूतार्थ है यह पढ़कर बड़े-बड़े व्याख्यान किए हैं।

कुन्दकुन्द ने फिर आगे जीवाधिकार (ज्ञानसागर और कटारिया संस्करण) में कहा कि **णिच्छयदो ववहारो पोग्गल कम्माण कत्तारो,** यानि असल में व्यवहार में आत्मा को पुद्गल कर्मो का कर्ता कहा जाता है। यदि यह व्यवहार वचन असत्यार्थ है तो फिर क्या कर्म ही अपनी मर्जी से आते जाते रहते हैं। यदि ऐसा होता तो कुन्दकुन्द कर्मबंध और निर्जरा आदि का इतना बड़ा व्याख्यान समयसार की ही लगभग चार सौ से अधिक गाथाओं में क्यों करते? क्यों करते कोई तपस्या? केवल ध्यान लगाकर ही जीव को देह से, कर्मो से मुक्त कर लेते। यह व्यवहार नय ही तो है कि जब हम कहते हैं कि जीव व देह एक दिखाई देते हैं पर असल में जीव और देह कदापि एक नहीं हैं, अलग अलग हैं, यथा-

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि इक्को
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो

यह बात बिलकुल सही है परन्तु आगे सवाल उठते हैं कि फिर क्या किया जाए कि आइंदा यह देह धारण न करना पड़े।

इसलिए साफ-साफ आगे कहते हैं-

ववहारस्स दरीसणमुवदे सो <u>वण्णिदो जिणवरेहिं।</u>
एदे जीवा सव्वे अज्झवसाणादओ भावा।।

राया खु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया।।
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं।
जीवोत्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो।।

जिनवर स्वयं व सूत्र भी (सूत्र का प्रयोग श्वेताम्बर आगम साहित्य में अधिक होता है) जो उपदेश देते हैं वह व्यवहार दर्शन है वर्ना अध्यवसानादि भावों को लिए यह कैसे कहते कि ये जीव ही हैं। यद्यपि दरअसल जीव तो एक है परन्तु अध्यवसानादि परभावों को जीव कहना यह व्यवहार की भाषा है, वैसे ही जैसे फौज को निकलते देखकर यह कहा जाए कि राजा ही जा रहा है, यानि सारी फौज को ही राजा कह देना या यदि कोई पथिक मार्ग पर लूट लिया जाए, तो कहना कि मार्ग लुट गया है अथवा युद्ध तो जीता योद्धाओं ने पर यह कहना कि राजा ने युद्ध जीता या यथा राजा तथा प्रजा के अनुसार यों कहना ही राजा प्रजा में अच्छाई बुराई पैदा करता है। यह सब व्यवहार की, बोलचाल की, मुहावरे की भाषा है। इसी प्रकार जीव के लिए यह कहना कि वह पर्याप्त है, अपर्याप्त है, सूक्ष्म है, बादर है, यह व्यवहार की (अनेकान्त की) भाषा है यद्यपि यह सब देह के लिए कहा गया है परन्तु प्रकारान्तर से जीव के लिए ही कहा गया है-

पज्जा पज्जता जे सुहुमा बादरा य जे जीवा देहस्स जीव सण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता।

आगे जो यह कहा कि-

ववहारेण दु आदा करेदि घट पट रथादि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि।।

व्यवहार में तो ऐसा देखा ही जाता है कि आत्मा (मानव) घट पट रथ आदि द्रव्यों को बनाता है (यहाँ द्रव्यों से मतलब पारिभाषिक द्रव्यों से नहीं है बल्कि केवल पर्यायों से, वस्तुओं से है) वैसे ही आत्मा, विविध इन्द्रियों, ज्ञानावरणादि कर्मों और नो कर्म का कर्ता है, यह कथन व्यवहार का कथन है, परन्तु यह भी तो स्वयं जिनवर के ही वचन हैं-

तह जीवे कम्माणं नोकम्माणं च पस्सिदुवण्णं।
जीवस्स एसवण्णो जिणेहि ववहारदा उत्तो।।

अब जब जिनवर स्वयं व्यवहार का प्रयोग कर रहे हैं तो फिर भी क्या उसे अभूतार्थ याने असत्यार्थ कहा जाएगा? इतना होते हुए भी और गाथा में '**अभूदत्थो**' शब्द का प्रयोग न होते हुए भी अमृतचन्द्र ने इसे अभूतार्थ पढ़ा, फिर भी उन्होंने इसे असत्य ऐसा नहीं कहा; अविद्यमान, अभूत ऐसा कहा किन्तु जयसेन ने अभूतार्थ का अर्थ असत्यार्थ किया जो गलत है। यदि इनकी बात मान लें तो यह स्वीकार करना होगा कि न कोई कुन्दकुन्द हुए न लिखा गया कोई समयसार. क्या कुन्दकुन्द कृत समयसार भी असत्य वचन है क्योंकि शुद्ध आत्मा का न कोई नाम है न वह कोई ग्रंथ ही रचती है। दरअसल भूतार्थ का मतलब है भूत अर्थात् पदार्थों में रहने वाला जो अर्थ अर्थात् भाव है उसे जो प्रकाशित करता है उसे भूतार्थ कहते हैं। भूत यानी प्राणी के अर्थ याने हित में है। इसके विपरीत पदार्थ में जो अर्थ न हो उसे प्रकाशित करना अभूतार्थ है। लगता है जयसेन स्वयं भी अमृतचन्द्र के अर्थ से पूरी तरह आश्वस्त नहीं थे। इसलिए उनने विवादाधीन गाथा का एक अर्थ यह भी किया कि दोनों ही नय दो दो प्रकार के हैं; **व्यवहार भूतार्थ** और अभूतार्थ दोनों ही हैं तथा निश्चय भी शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय दो प्रकार का है। स्वय अमृतचन्द्र भी अपनी पहली व्याख्या से संतुष्ट नहीं थे, इसलिए उन्होंने कहा कि '**केषांचित् कदाचित् सोऽपि प्रयोजनवान्**' अर्थात् किसी के लिए कभी व्यवहार नय भी प्रयोजनवान है। उन्होंने एक कलश (नं. 5) भी इस प्रकार कहा है -

व्यवहारनयः स्याद्यद्यपि प्राक् पदव्यामिह-
निहित पदानां हन्त हस्तावलम्बः।
तदापि परमर्थ चिच्चमत्कार मात्रं
परविरहितमन्तः पश्यतो नैव किंचिद्।।

यद्यपि प्रथम पदवी में पैर रखने वालों के लिए व्यवहार नय हस्तावलम्ब रूप है, फिर भी जो पुरुष परद्रव्य के भावों से रहित चैतन्य चमत्कार मात्र परम

अर्थ को अन्तरंग में देखते हैं उनके लिए व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजन नहीं रखता।

जयचन्द जी का विचार है कि "यदि कोई व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ जान कर छोड़ दे तो शुभोपयोग व्यवहार को छोड़ दे और चूंकि शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति प्राप्ति नहीं हुई इसलिए उल्टा अशुभयोग में ही आकर भ्रष्ट हुआ यथा कथंचिद् स्वेच्छा रूप प्रवृत्ति करेगा तब नरकादि कर परम्परा से निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करेगा।"

ज्ञानसागर जी ने समयसार की टीका में व्यवहार को असत्यार्थ तो कहा परन्तु इस तरमीम के साथ कि यहाँ असत्यार्थ का अर्थ ईषत् सत्य लेना. चाहिए। उन्होंने यह भी बतलाया कि भूत का एक अर्थ 'सम' भी होता है। अत: भूत का अर्थ सामान्य धर्म को बताने वाला होता है और फिर व्यवहार अभूतार्थ का अर्थ होगा व्यवहार पर्यायार्थिक नय याने विशेषता को बताने वाला।

क्या अमृतचन्द्र, क्या जयसेन, क्या ज्ञानसागर और क्या अन्यों ने जो सर्वोच्च कोटि के दार्शनिक थे फिर भी सीधे-सीधे यह क्यों नही कहा कि दोनों ही नय भूतार्थ हैं। मुझे लगता है कि किसी समय किसी लिपिकार ने अपनी अकल लगाकर-"ववहारो भूदत्थो" को "ववहारो ऽ भूदत्थो" लिख दिया। संस्कृत छायाकारों ने इसे ही सही माना और परवर्ती विद्वान भी यह साबित करने की कोशिश में लगे रहे कि व्यवहार नय सिक्का तो है, मगर खोटा। कटारिया संस्करण ने परम्परा पर पुनर्चिन्तन की आवश्यकता जताई है। आशा करनी चाहिए कि वर्तमान श्रुतज्ञ विद्वान् इस विषय पर व्यापक रूप से गौर करेंगे और श्रुत के उपासकों का सही मार्ग दर्शन करेंगे।

एक रोचक बात यह भी दिखाई पड़ती है कि सीधी सादी बात का आगम के जानकार लोग किस प्रकार विभिन्न अर्थ करते हैं। एक गाथा है-

मोत्तूण णिच्छयट्ठ ववहारे ण विदुसा पवट्ठंति।
परमट्ठ मस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ होदि॥

कुन्दकुन्द भारती (1994)-निश्चयनय के विषय को छोड़कर विद्वान् व्यवहार के द्वारा प्रवृत्ति करते हैं किन्तु (शुद्धात्मभूत) परमार्थ के आश्रित यतियों के ही कर्मो का क्षय होता है। (याने कि विद्वान् लोग सही नही हैं)।

रूपचन्द कटारिया-विद्वान् लोग निश्चयार्थ को छोड़कर व्यवहार में प्रवर्तन नहीं करते हैं क्योंकि परमार्थ के आश्रित यतियों के ही कर्म क्षय होता है। ववहारेण को ववहारे ण ऐसे पढ़ा है।

ज्ञानसागरजी-ने अर्थ किया है कि निश्चय नय को छोड़कर वही लोग व्यवहार में प्रवृत्ति करते हैं जो प्रमादी हैं क्योंकि कर्म का क्षय तो उन्हीं यतीश्वरों के होता है जो परमार्थ भूत स्वरूप में तल्लीन होते हैं। परन्तु ज्ञानसागर जी ने विशेषार्थ में स्पष्ट किया कि आगम शैली कहती है कि व्यवहार में प्रवृत्ति किए बिना निश्चय को प्राप्त नहीं किया जा सकता। ज्ञानसागर जी ने दोनों तरह से अर्थ किया है। एक को अध्यात्म शैली व दूसरे को आगम शैली से कहना बताया है। दरअसल व्यवहार और निश्चयनय दोनों ही अध्यात्म के रास्ते हैं। केवल कहने की शैली अलग-अलग है। मेरे ख्याल में कोई नय असत्य नहीं हो सकता। जो असत्य है वह नय ही नहीं है। इस बात का समर्थन सन्मति तर्क प्रकरण की गाथा 1/28 से भी होता है कि-

णियय वयणिज्ज सच्चा सव्वणाया परवियालणे मोहा।
ते उण ण दिट्ठसमओ विहयइ सच्चे अलीए वा॥

वे सभी नय अपने अपने विषय के कथन करने में समीचीन हैं पर जब वे दूसरे नयों का निराकरण करने लगते हैं तब वे मिथ्या हो जाते हैं (अनेकान्त रूप) समय के ज्ञाता यह भेद नहीं करते कि यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है अलीक है।

अत: इस गाथा का सही अर्थ है कि जो निश्चयनय को छोड़कर व्यवहार में प्रवृत्त करते हैं वे समझदार तो हैं किन्तु जिनको कर्म क्षय इष्ट हैं उन्हें आत्मा का आश्रय लेना ही होगा। इस प्रकार एक गाथा और है-

एवं ववहार णओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।

णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥

कुन्दकुन्दभारती-व्यवहारनय निश्चय के द्वारा प्रतिषिद्ध है, वे मुनि ही निर्वाण प्राप्त करते हैं जो निश्चय नय के आश्रित हैं।

रूपचन्द कटारिया-निश्चय नय में व्यवहार नय का प्रतिषेध नहीं है। निश्चय नय में स्थित मुनि निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

जयसेन-व्यवहार नय निश्चय नय का साधक है इसलिए प्रारम्भ में प्रयोजनवान् है ही। मेरे विचार में जो साधक है वह वर्जित नहीं हो सकता। इसलिए कटारिया जी का अन्वयार्थ सही जान पड़ता है। जय धवला 1/7 में तो कहा ही है कि-**ण च ववहार णओ चप्पलओ** अर्थात् व्यवहार नय झूठा नहीं होता। किसी मनीषी ने यह सही कहा है कि सुवर्ण पाषाण की मानिंद पहले व्यवहार की प्राप्ति के पश्चाद् ही सुवर्ण की भांति निश्चय को प्राप्त किया जा सकता है।

कुछ समय पहले मैंने **अनेकान्त** में ही एक लेख में कहा था कि यदि व्यवहार को अभूतार्थ भी मानें तो इसका अर्थ असत्य नहीं, आंशिक सत्य होगा। यही मन्तव्य ज्ञानसागरजी का भी रहा है, परन्तु अब पुनर्विचार करने पर यह मत बनता है कि व्यवहार भूतार्थ है और इसलिए व्यवहार भी सत्यार्थ है, शुद्ध है। कटारिया संस्करण लगता है ठीक ही कहता है। मेरे ख्याल में शायद इसीलिए अमृतचन्द्र ने शुद्धनय और निश्चय नय की अलग-अलग व्याख्या की है-

निश्चयनय

निश्चय नये न केवल बध्य मानमुच्यमान बंधमोक्षो चित स्निग्ध रुक्षत्व गुण परिणत परमाणु वद् बन्धमोक्षयोर द्वैतानुवर्ति

निश्चय नय कर आत्मा पर द्रव्य से बंधमोक्षावस्था की दुविधा को नहीं धारण करता, केवल अपने ही परिणाम से बंध मोक्ष अवस्था को धरता है, जैसे अकेला परमाणु बंध मोक्ष अवस्था के योग्य अपने स्निग्ध, रुक्ष, गुण परिणाम

को धरता हुआ बंध मोक्ष अवस्था को धारण करता है (बंध मोक्ष तो दरअसल कर्म परमाणुओं का होता है)।

शुद्धनय–

शुद्धनयेन केवल मृण्मात्रवन्निरुपाधि स्वभावम्

शुद्ध नय कर उपाधि रहित स्वभाव केवल ऐसे हैं जैसे मृत्तिका होती है। नयों का उपसंहार करते हुए अमृतचन्द्र लिखते हैं–''यह आत्मा नय और प्रमाण से जाना जाता है जैसे एक समुद्र जब जुदी–जुदी नदियों के जल से सिद्ध किया जाए तब गंगा–यमुना आदि के सफेद नीलादि जलों के भेद से एक–एक स्वभाव को धरता है, उसी प्रकार यह आत्मा नयों की अपेक्षा एक–एक स्वरूप को धारण करता है और जैसे वही समुद्र अनेक नदियों के जलों से एक ही है, भेद नहीं, अनेकान्त रूप एक वस्तु है. (न नदियां अभूत हैं न समुद्र) उसी प्रकार यह आत्मा प्रमाण की विवक्षा से अनंत स्वभाव मय एक द्रव्य है। इस प्रकार एक अनेक नय प्रमाण से सिद्धि होती है, नयों से एक स्वरूप दिखलाया जाता है, प्रमाण से अनेक स्वरूप दिखलाए जाते हैं। इस प्रकार स्यात् पद की शोभा से गर्भित नयों के स्वरूप से अनेकान्त रूप प्रमाण से अनंत धर्म संयुक्त शुद्ध चिन्मात्र वस्तु का जो पुरुष निश्चय सिद्धान्त करते हैं वे साक्षात् आत्मस्वरूप के अनुभवी होते हैं।'' (प्रवचनसार टीका)

इतना होते हुए भी अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति में व्यवहार को जो अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहा है–इसकी एक वजह यह लगती है कि व्यवहार को अभूतार्थ कहने के बाद प्रवचनसार की टीका में उनने विषय को और सोचा व इस खूबी से स्पष्ट किया है कि जिससे लगता है कि वे एक सतत अध्ययनरत ऋषि थे, एकान्त के हठ से हटकर, अनेकान्तवादी, टीकाकार व लेखक थे। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय (गा. 225) के अंत में बड़े ही मनोहारी तरीके से उनने अनेकान्त (व्यवहार व निश्चय के समन्वय) को यों हृदयंगम कराया है–

एकेनाकर्षयन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अंतेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी।।

जैसे गोपी (दधि) मंथन की रस्सी को एक ओर से खींचती है व दूसरी ओर से ढीला छोड़ती है वैसे ही जैनी नीति (अनेकान्त) का (विचार) मंथन है और यही वजह है कि अन्त में जीत उसी की होती है।

आचार्य महाप्रज्ञ का निष्कर्ष है कि "महावीर ने निश्चय और व्यवहार नय की यात्रा में बाहरी दर्शन और अन्त दर्शन की जटिल समस्या का समाधान किया-कुन्दकुन्द ने भी निश्चय और व्यवहार नय के आधार पर इस समस्या का समाधान किया। एक प्रसिद्ध गाथा है निर्युक्त साहित्य में जिसे अमृतचन्द्र ने समयसार की टीका में भी उद्धृत किया है :-

जइ जिणमय पवज्जह मा ववहार णिच्छयं मुयह।
ववहारस्स उच्छेये तित्थुच्छेवो हवई वस्सं।।

यदि जिनमार्ग पर चलना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों में से किसी को मत छोड़ो। व्यवहार का उच्छेद होने पर तीर्थ का उच्छेद हो जाएगा-व्यवहार और निश्चय ये दो आँखें हैं। दोनों से देखना ही पूर्ण देखना है। "आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय की बात बहुत कही, अध्यात्म को समझने पर बहुत बल दिया परन्तु निश्चय के साथ-साथ व्यवहार को भी बराबर निभाया। उन्होंने व्यवहार को छोड़ा नहीं। निश्चय की आँख है सच्चाई को जानने के लिए और व्यवहार को आँख है जीवन की यात्रा को चलाने के लिए। जीवन की यात्रा को छोड़कर व्यवहार को छोड़कर सच्चाई को पाने की बात आकाशीय उड़ान है। जीवन ही नहीं तो सच्चाई मिलेगी कैसे? दोनों बाते साथ-साथ चलती हैं।" आचार्य महाप्रज्ञ का तो यह भी मंतव्य है कि "बहुत विद्वानों ने आचार्य कुन्दकुन्द को निश्चय नय की सीमा में आबद्ध करने का प्रयत्न किया हैं। उनका दृष्टिकोण अनेकान्त की सीमा का अतिक्रमण करता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय और व्यवहार दोनों नयों को अपनी-अपनी सीमा में अवकाश दिया है। केवल सूक्ष्म पर्याय ही सत्य नहीं है, स्थूल पर्याय भी सत्य है। क्या सत्य के एक पहलू को नकार कर असत्य को निमंत्रण नहीं दिया जा रहा। इस विषय पर विमर्श आवश्यक है।" तो फिर भला कैसे कहा जाए कि व्यवहार भूतार्थ नहीं है, सत्यार्थ नहीं हैं, भूत (प्राणी) के अर्थ (हित) में नहीं है। कटारिया ठीक ही कते हैं कि व्यवहार भी भूतार्थ है,

सत्यार्थ है, भूत (प्राणी) के हित में हैं। मेरा विनम्र विचार तो इससे कुछ थोड़ा सा आगे है-व्यवहार भूतार्थ है और इस कारण वह भी शुद्ध ही है।

इसके अलावा कुन्दकुन्द एक आचार्य हैं और उनका समय प्राभृत दरअसल व्यवहार से निश्चय की यात्रा कराना चाहता है। हालांकि वे हम से असंख्य गुणा अधिक आत्मान्वेषी मनीषी विद्वान थे फिर भी हमें समझाने में मानव सम्भव भाषाजन्य चूक कर सकते थे। स्वयं उन्हें इस बात का अहसास था। हमें भी छल रहित होकर भूलचूक का सुधार कर उन्हें समझना चाहिए। उन्होंने क्या लिखा या कहा उसमें सदियों में लिपिकारों व टीकाकारों ने कहीं चूक की ही न हो, ऐसा समझना दिमाग की खिड़कियों पर ताला डालना है-शुद्ध वायु से वंचित होना है। सतत चिंतन को अवरुद्ध करना है।

आत्मानुभूमि का व्यवहार की भाषा में वर्णन का एक अच्छा उदाहरण देना चाहता हूँ। ममल पाहुड़ की सोलह गाथाओं के ''संसर्ग फूलना'' (73) में आत्मदर्शी सन्त तारण स्वामी जो कहते हैं, जरा उसका एक अंश सुनिए -

परम परम जिनं परं सु समयं पर्म सिवं सासुतं
परम परम पदं पदर्थ ममलं अर्थ ति अर्थ समं
कमल कमल सुभाव विदंति सु समयं अचष्यं अचष्ये बुधैः
अचष्ये केवल दर्स दिस्टि ममलं न्यानं च चरनं समं
बारम्बार वियारनं सु समयं, पूजं च पूर्व धुवं
पिच्छं सुद्ध न्यान दिस्टि ममलं तारन तु तरनं सुयं

स्व समय परमोत्तम जिन है, वह शिव है, शाश्वत है। उसका अर्थ समभाव है और वह परम पद परम निर्मल है। कमल के समान उसका प्रफुल्लित स्वभाव है। वह समय (आत्मा) स्वयं को जानता है। वह इन्द्रियातीत है किन्तु बुधजन द्वारा देखा गया है। वे केवल दर्शन है, बाधा रहित निर्मल दृष्टि है। वह ज्ञान है, वह चरित्र है और सम्यक् है। वह शुद्ध समय बार-बार विचारने के लायक है, वह पूज्य है, ध्रुव अवस्था में पूजनीय है। पीछे शुद्ध ज्ञान दृष्टि से उस निर्मल आत्मा का अनुभव होता है। वह स्वयं ही तारन तरन है। आत्मा अपने आप सूर्य समान प्रकाशित है, शुद्धात्मा परमात्मा है, ज्ञान-ज्ञान में ही शुद्ध निर्मल रूप आनन्द मग्न है। मुक्ति पथ में स्थित है।

आत्मा का यथार्थ (भूतार्थ) ज्ञान होना ही तो मुश्किल काम है।

धन कन राजसुख सबहिं सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में एक जथारथ ज्ञान।।

तारण स्वामी की पदावली में अनुभव मानों हिलोरे ले रहा है, छलक रहा है। समयसार में न्याय और तर्क शास्त्र का आधिक्य है और टीकाओं में तो इनका बाहुल्य है। बड़ा मुश्किल काम है आनंद सागर की अनन्तता को शब्दों में भर लेना।

अब कुछ विशिष्ट बातें-

1. कटारिया संस्करण में अन्य संस्करणों के मुकाबले करीब 40 गाथाएं अधि क हैं-उनका आधार ताड़पत्र है। इस कारण पहली जरूरत तो यह है कि गाथाएं व्यवस्थित हों, भाषा में एक रूपता हो तथा अधिकारों के शीर्षक सही हों।

2. कुन्दकुन्द का यह उपदेश तो हितकारी है कि आत्मा का स्वरूप, असली रूप तो (सिद्ध आत्माओं की तरह मुक्त) कर्म रहित शुद्ध रूप है। उसे वे निश्चय नय से हासिल की गई जानकारी बतलाते हैं। यह जिनवर वर्णित है।

3. साथ ही वे यह भी तो जानते थे कि उनका स्वयं का आत्मा और तमाम सिद्धेतर आत्माएं कर्मो से बंधी हुई हैं और कर्मों से छुटकारा पाना और उसके लिए उपाय करना भी जरूरी है। इसको इन उपायों की वे व्यवहार नय से हासिल की गई जानकारी बतलाते हैं और यह भी जिनवर वर्णित है।

4. व्यवहार व निश्चय नय दोनों ही सही हैं, भूतार्थ हैं और अध्यात्म की, मुक्ति की आवश्यकताएं हैं, सच्चाईयां हैं। यदि आत्मा को केन्द्र न बनाया जाए, यदि आत्मा पर विश्वास न हो, तो ध्यान, तपस्या के सारे उपक्रम, सारे व्यापार, सारे व्यवहार बेमानी हैं, दिगम्बर या श्वेताम्बर साधु या गृहस्थ वेष सब वृथा हो जाते हैं।

5. यहाँ पर एक यह सावधानी बरतने की जरूरत है कि खाली आत्मा के ध्यान से ही कर्म क्षय होने वाला नहीं है। आत्मध्यान व व्रत याने निश्चय और व्यवहार, व्रतादि चारित्र दोनों का सामंजस्य जरूरी है। यदि यह सावधानी न बरती गई तो लगेगा कि समयसार वह ग्रन्थ है जो कहीं कुछ, कही कुछ कहता है। अगर 'नय' शब्द का मोह छोड़ दें तो बात सीधी है निश्चय लक्ष्य है, व्यवहार मार्ग है।

6. ऐसा भी प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द कृत ग्रन्थों के अलावा अन्य ग्रंथों में व्यवहार नय का तो जिकर है परन्तु निश्चय नय का नहीं है। इसी प्रकार मूलाचार में तो केवल नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये छह प्रकार का प्रतिक्रमण बताया है। समयसार में आठ प्रकार के जो प्रतिक्रमण बताएं हैं वे आवश्यक निर्युक्ति में भी पाए जाते हैं।

मुझे यदि इजाजत हो तो मैं कहूँगा कि निश्चय मार्ग से मतलब Theory (मूल सिद्धान्त) से है और व्यवहार मार्ग से मतलब Practice (चारित्र) से है। दोनों ही अपनी-अपनी जगह भूतार्थ हैं। यह न भूलना चाहिए कि जिस वस्तु को आत्मा कहते हैं उसको यह नाम हमने अपनी भाषा में याने व्यवहार में ही दिया है। शायद "आत्मा" का इस बात पर ध्यान भी न हो कि उसे कुछ लोग आत्मा, कुछ Soul, कुछ रूह बोलते हैं। इसी प्रकार 'निश्चय नय' यह नाम भी भाषा ही का व्यवहार तो है। यदि यह (समय) सारे हृदयंगम कर लें तो निश्चय व्यवहार का विवाद ही नहीं रहता। विवाद भी व्यवहार का ही है। भूतार्थ, अभूतार्थ ये शब्द भी व्यवहार के ही हैं। यदि व्यवहार को भूतार्थ न माना तो सारे आचार शास्त्र असत्य की कोटि में आ जाएंगे। दरअसल शास्त्र कुछ नहीं जानता है-

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणाविंति।।

निश्चय नय से ही सही क्या हम कह सकते हैं कि समयसार कुछ नहीं जानता और समयसार के वचन ज्ञान नहीं है। जिनवर कहते हैं कि शास्त्र अलग चीज है, ज्ञान अलग!!

अन्त में मैं सविनय श्रीमद् राजचन्द्र के इन उद्गारों के स्वर से स्वर मिलाना चाहता हूँ-"हे, कुन्दकुन्द आदि आचार्यों! तुम्हारे वचन भी निज स्वरूप की खोज करने में इस पामर के परम उपकारी हुए हैं, इसलिए मैं तुम्हें अतिशय भक्ति से नमस्कार करता हूँ।"

मंगलम् कुन्दकुन्दाद्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्॥

215, मन्दाकिनी एन्क्लेव,
अलकनंदा, नई दिल्ली-110019

●●

मेरी भावना की सर्वव्यापकता

- डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल

प्राचीन जैनाचार्यो को जीवन-काल और उनकी रचनाओं की शोध-खोज तथा जैन साहित्य में जैन-सिद्धान्त विरोधी तत्वों की मिलावट का भंडाफोड़ करने वाले शोध-पिपासु, अनवरत ज्ञानयोगी, अद्‌भुत तर्कशील, श्रमसाधक एवं बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी पंडित रत्न जुगल किशोरजी मुख्तार के कृतित्व एवं व्यक्तित्व का मूल्यांकन करना वास्तव में जैन-संस्कृति को दी गयी उनकी बहुमूल्य सेवाओं के लिए विनम्र श्रद्धांजलि देना है।

जिस प्रकार वस्तु-स्वरूप शब्दांकन के परे हैं, उसी प्रकार किसी कर्मठ एवं समर्पित विराट व्यक्तित्व को शब्दों की परिधि में बाँधना कठिन है। यही बात कर्मयोगी, साहित्य महारथी, क्रांतिकारी विचारक पं. जुगल किशोर मुख्तार पर लागू होती है। व्यक्ति, परिवार, समाज, धर्म, संस्कृति और राष्ट्र के प्रति जब-जब जैसा-जैसा उत्तरदायित्व उन पर आया, उन्होंने समर्पित भाव से उसे स्वीकार किया और सफलता पायी। वे निष्कामकर्मी एवं तत्व मर्मज्ञ थे। सामाजिक परिवेश में वे सुयोग्य संगठक, राष्ट्रभक्त, समाजसुधारक, अन्वेषक एवं जिनशासन भक्त थे। उनका ध्येय वीतरागवाणी द्वारा प्राणीमात्र का कल्याण करना था, इसके लिये वे आजीवन समर्पित रहे।

पं. मुख्तार साहित्य की प्रत्येक विद्या के मर्मज्ञ और सृजक थे। पत्र-पत्रिका सम्पादन, निबन्ध लेखन, ग्रंथ समीक्षा/परीक्षा, टीकाकार, इतिहास आदि साहित्य की विधाओं पर उन्होंने सार्थक, प्रभावपूर्ण सफल लेखनी चलाई और नये-नये तथ्यों को उद्‌घाटन किया। इसी कारण पं. मुख्तार अपने जीवन काल में ही "युगवीर" सम्बोधन से प्रसिद्ध हुए।

वर्तमान में आधिकाधिक साहित्य सृजन एवं प्रकाशन की होड़ कतिपय साधन सम्पन्न महानुभावों/साधकों में लगी है। अधिकाधिक प्रकाशन की भावना में सार्थक/सारगर्भित प्रकाशन का बोध लुप्त हो गया है। ऐसे महानुभावों को पं. मुख्तार की साहित्य साधना दिशा बोध कराती है कि साहित्य

सृजन/प्रकाश्न गुणात्मक कालजयी हो, न कि परिमाणात्मक-सामयिक। पं. मुख्तार सफल एवं तार्किक लेखक के साथ ही सहृदय एवं यथार्थपरक कवि भी थे। वीतरागता, विश्वबन्धुत्व, आदर्श मानव जीवन, अछूतोद्धार भक्तिपरक स्तोत्र आदि मानव जीवन को महिमार्मंडित करने वाले विषयों पर उन्होंने भाव-प्रणव कवितायें हिन्दी और संस्कृत भाषा में शब्दांकित की। ये कविताएं ''युगभारती'' नाम से प्रकाशित हुई।

मेरी भावना-जन भावना की प्रतीक :

उनकी हिन्दी कविताओं में वर्ष 1916 में रचित सर्वाधिक लोकप्रिय एवं बहुपठित कविता ''मेरी भावना है''। मेरी भावना में कवि ने पक्षपात की भावना से ऊपर उठकर प्राणीमात्र की शांति, उत्थान और उन्हें आध्यात्मिक ऊँचाईयों तक पहुँचाने वाले वीतराग-दर्शन, उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया-प्रतीक तथा आत्मसाधक साधु-श्रावकों की भावना और आचरण का हृदयग्राही वर्णन किया है। इसका प्रयोजन वस्तु-स्वरूप के भावबोध से उत्पन्न प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव, पर्यावरण-रक्षा, लोकोपयोगी जीवन-दर्शन, सहजन्याय एवं ध र्माधारित राज्य व्यवस्था तथा वीतरागता की प्राप्ति का सर्वकालिक/सार्वभौमिक लक्ष्य रेखांकित करना है। जिस प्रकार स्व. श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ''उसने कहा था'' कहानी लिखकर अमर हो गये, उसी प्रकार ''मेरी भावना'' कविता लिखकर पं. जुगल किशोर मुख्तार अमर हो गये। अंतर मात्र इतना है कि जो प्रसिद्धि एवं साहित्य में स्थान गुलेरी जी को मिला, मुख्तार सा. सामाजिक परिवेश में ही सीमित रह गये। किसी अन्य धर्मावलम्बी की यदि यह रचना होती तो वह राष्ट्रगीत जैसी ''राष्ट्रभावना'' या ''जन-भावना'' के रूप में प्रसिद्ध होती।

मेरी भावना-सार्थक नाम :

जैसा भाव वैसी क्रिया, जैसी क्रिया वैसा फल, यह सर्वश्रुत है। अर्थात् भावानुसार फल मिलता है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर मानव जीवन को सम्यक् रूप से रूपांतरित करने के प्रयोजन की सिद्धि हेतु ''मेरी भावना'' एक सार्थक नाम है। इसमें ग्यारह पद्य हैं। इसमें वीतराग-विज्ञान के आद्य प्रतिपादक आचार्य कुन्दकुन्द एवं प्रखर तार्किक आचार्य समन्तभद्र आदि द्वारा प्रतिपादित वस्तु-स्वरूप, अनेकान्तदर्शन, परमात्मा का स्वरूप एवं उसकी

प्राप्ति के उपाय का सार तो है ही, साथ ही अन्य भारतीय दर्शनों एवं साहित्य जैसे गीता, रामायण, महाभारत आदि की लोकोपयोगी शिक्षाओं का भी समावेश है। कवि ने मेरी भावना के नाम से जगत के सभी जीवों की उदात्त भावनाएं व्यक्त कर दी हैं।

परमात्मस्वरूप अरहंत-सिद्ध परमेष्ठी :

मेरी भावना की प्रथम पंक्ति "जिसने रागद्वेष-कामादिक जीते, सब जग जान लिया" में परमात्मा का स्वरूप दर्शाया है। कवि का इष्ट परमात्मा राग-द्वेष-कामादि विकारों का विजेता सर्वजगत का ज्ञाता और मोक्षमार्ग का उपदेष्टा है, भले ही उसे बुद्ध, महावीर, जिनेन्द्र, कृष्ण, महादेव, ब्रह्मा या सिद्ध किसी भी नाम से पुकारा जाये। ऐसे परमात्मा के प्रति भक्तिभाव से चित्त समर्पित रहे, यही कवि की भावना है। प्रथम पंक्ति में सर्वदोषविहीन एव सर्वमान्य विराट परमात्मा के दर्शन होते हें जो अपने में सर्व जीवों के आत्म-स्वभाव की समानता एवं पथ-निरपेक्षता के भाव को समेटे हैं। इसमे "निस्पृह हो उपदेश दिया", में अरहंत परमेष्ठी एवं "या उसको स्वाधीन कहो" में सिद्ध परमेष्ठी समाहित हो गये हैं।

मोक्षमार्ग के पथिक त्रिपरमेष्ठी-आचार्य, उपाध्याय एवं सर्व साधु :

कवि ने मेरी भावना के पद दो एवं तीसरे के पूर्वार्द्ध में कुशलतापूर्वक आचार्य, उपाध्याय एवं सर्वसाधु परमेष्ठी का स्वरूप बताया है। "विषयों की आशा नहीं जिनके, साम्य भाव धन रखते हैं।" यह पंक्ति सामान्य साधु के अंतरंग स्वरूप को बताती है। संसार-दुःख का नाश करने वाले ज्ञानी-साधु इन्द्रिय भोगों और कषायों से विरक्त होकर समत्व भाव धारण करते हुए अहिर्निश स्व-पर कल्याण में निमग्न रहते हैं और बाह्य में खेद रहित अर्थात् सहज भाव से स्वार्थ त्याग अर्थात् शुभाशुभ कर्म-समूह की निर्जरा हेतु कठोर तपस्या करते दिखाई देते हैं। ऐसे ज्ञानी-ध्यानी-तपस्वी साधुओं की सत्संगति सदैव बनी रहे, ऐसी भावना भायी है। इनमें ज्ञानी-ध्यानी-तपस्वी साधु आचार्य परमेष्ठी हैं। विशेष ज्ञानी-ध्यानी साधु उपाध्याय परमेष्ठी हैं और साधु तो साधु परमेष्ठी हैं ही।

इस प्रकार कवि ने मोह राग-द्वेष से निवृत्ति एवं स्वभाव में प्रवृत्ति हेतु पंचपरमेष्ठी की शरण ग्रहण की भावना की है।

परमात्मा होने का उपाय, प्रक्रिया :

आत्मा का मोह क्षोभ रहित शुद्धज्ञायक भाव ही धर्म है और धर्म स्वरूप परिणत आत्मा ही परमात्मा है। शुद्धज्ञायक भाव में कैसे प्रवृत्ति हो, इसका आध्यात्मिक एवं प्रायोगिक निरूपण कवि ने मेरी भावना के पद्य 9, 10 एवं 11 में किया है। इस सम्बन्ध में निम्न पंक्तियाँ मननीय हैं :-

पद्य-9 : "घर-घर चर्चा रहे धर्म की, दुष्कृत-दुष्कर हो जावे
ज्ञान-चरित्र उन्नत कर अपना, मनुज जन्म फल सब पावे"

पद्य-10 : "परम-अहिंसा-धर्म जगत में, फैल सर्वहित किया करे"

पद्य-11 : "फैले प्रेम परस्पर जग में, मोह दूर ही रहा करे
वस्तु-स्वरूप-विचार खुशी से, सब दुख संकट सहा करे"

उक्त पंक्तियों के रेखांकित बिन्दुओं पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि मोह रूप आत्म-अज्ञान ही दुख-स्वरूप और दुख का कारण है। मोह का क्षय बारम्बार वस्तु-स्वरूप के विचार एवं भावना से होता है। उससे आत्मा में परमात्मा का अनुभव होता है। ऐसे व्यक्ति के हृदय में आस्तिक्य बोध के कारण जगत के जीवों के प्रति मैत्रीभाव और करुणा सहज ही उत्पन्न होती है। मोह नाश से ज्ञान-स्वरूप आत्मा का ज्ञान होता है फिर ज्ञान में स्थिरता रूप चारित्र प्रकट होने लगता है जिससे वासना जन्य दुष्कृत्य स्वतः दुष्कर (कठिन) हो जाते हैं। मनुज जन्म की सफलता आत्मा के ज्ञान एवं चारित्र की उन्नति में है। ऐसा परम-अहिंसक साधक जगत के जीवों का हित करता है।

मोहमार्ग में वस्तु-स्वरूप के विचार की महिमा पं. बनारसीदास ने समयसार नाटक में निम्न रूप से व्यक्त की है-

**"वस्तु-विचारत ध्यानतें मन पावे विश्राम
रस स्वादत सुख ऊपजे अनुभव याको नाम
अनुभव चिंतामणिरतन, अनुभव है रसकूप
अनुभव मारग मोक्ष का, अनुभव मोक्ष स्वरूप"**

स्व-पर कल्याण कारक आदर्श नागरिक संहिता :

मेरी भावना में पद तीन के उत्तरार्द्ध से पद 8 तक मानव व्यवहार की

स्व-पर कल्याणकारी आदर्श नागरिक संहिता की भावना है जो जीवन में अनुकरणीय है, उपादेय है।

किसी जीव को पीड़ित न करूँ और झूठ न बोलूँ। संतोषरूपी अमृत का पान करते हुए किसी के धन एवं पर-स्त्री पर मोहित न होऊँ (पद-3) गर्व और क्रोध न करूँ, दूसरों की प्रगति पर ईर्ष्या न करूँ। निष्कपट सत्य व्यवहार करूँ। यथाशक्य दूसरों का उपकार करूँ (पद-4)। सभी जीवों पर मैत्री अनुकम्पा का भाव रहे। दीन-दुखी जीवों के दुख-निवारण हेतु हृदय में निरंतर करुणा रहे। दुर्जन-पापी जीवों पर साम्यभाव रखूँ और घृणा न करूँ (पद-5)। गुणीजनों से प्रेम करूँ। उनके दोष न देखूँ और यथाशक्य सेवा करूँ। परोपकारियों के प्रति कृतघ्न न बनूँ और न उनका विरोध करूँ (पद-6)। मैं न्याय मार्ग पर चलूँ। बुरा हो या भला, धन आये या जाये, मृत्यु अभी हो या लाख वर्ष बाद, कितना ही भय या लालच मिले किन्तु किसी भी स्थिति में, न्याय मार्ग से विचलित नहीं होऊँ (पद-7)। यह कर्तव्य बोध की पराकाष्ठा है, जो प्रजातंत्र की सफलता का सूत्र है। न्यायच्युत राज्य-व्यवस्था संत्रासदायी होती है जो अशांति को जन्म देती है।

सुख में प्रफुल्लित और दुख में भयभीत न होऊँ। पर्वत, नदी आदि से भयभत न होऊँ। इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-संयोग में सहनशीलता/समत्व भाव रखूँ। यही भावना निरंतर बनी रहे (पद-8)। मोह-रहित स्थिति में उक्त आचरण से कर्मबन्ध रुकेगा और कर्मनिर्जरा होगी।

धर्माचरण से विश्वकल्याण एवं राष्ट्र की उन्नति :

पद 9 एवं 11 में धर्माचरण से विश्व के जीवों के कल्याण एवं राष्ट्रों की उन्नति की भावना व्यक्त की है। यह "वसुधैव कुटुम्बकम्" का प्रयोगिक रूप है।

जगत के सभी जीव सुखी रहें, भयभीत न हों और बैर-पाप-अभिमान छोड़ कर नित्य नये मंगल गान करें। घर-घर में धर्म की चर्चा हो और निद्य-पाप अशक्य हो जावें। सभी जीव अपने स्वभाव रूप ज्ञान-चारित्र में वृद्धि करें (पद-9)।

मोहरूप अज्ञान का नाश हो और विश्व में परस्पर प्रेम का प्रसार हो। कोई

किसी से अप्रिय-कटु-कठोर शब्द न बोले और वस्तु-स्वरूप का विचार करते हुए कर्मोदय जन्म दुख और संकटों का सामना समतापूर्वक करें (पद-11)।

सुखी राज्य एवं पर्यावरण-रक्षा का आधार अहिंसा :

कवि ने पद 10 में पर्यावरण की रक्षा एवं प्रजा की सुख-शांति के सूत्र दिये हैं। अहिंसा धर्म के प्रचार-प्रसार से पर्यावरण की रक्षा और जगत के जीवों का कल्याण होगा। छहकाय के जीवों की रक्षा ही अहिंसा और पर्यावरण रक्षा है। उससे अतिवृष्टि-अनावृष्टि न होकर वर्षा समय पर होगी। रोग-महामारी-अकाल नहीं होगा। प्रजा शांतिपूर्वक रहेगी। राजा अर्थात् शासकगण धर्मनिष्ठ, अर्थात् न्याय नीति एवं सदाचार पूर्वक प्रजा की रक्षा करें। ऐसी स्थिति में सभी राष्ट्र उन्नति करेंगे।

संक्षेप में, ''मेरी भावना'' विश्व के जीवों के कल्याण अभ्युदय और निःश्रेयस पद की प्राप्ति की आदर्श विचार-आचार संहिता है। मेरी भावना के अनुरूप जीवन रूपांतरित हो यही कामना है।

मेरी भावना की गुणवत्ता, सार्वजनीनता एवं सर्वधर्म समभावना का अन्तःपरीक्षण कर प्रज्ञा चक्षु पण्डित शिरोमणी पं. सुखलालजी संघवी ने इसकी न केवल मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी, अपितु गुजरात के समस्त जैन गुरुकुलों में प्रातः-सायंकालीन प्रार्थना के लिए मेरी भावना की अनुशंसा भी की थी। उन्होंने महात्मा गांधी से उसकी प्रशंसा कर वहाँ के प्रार्थना गीत के रूप में स्वीकृत करने का अनुरोध किया था। यह उल्लेखनीय है कि वैल्दी फिशर द्वारा स्थापित साक्षरता निकेतन लखनऊ, जहाँ पर उत्तर प्रदेश शासन के कर्मचारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है, वहाँ प्रतिदिन सर्वधर्मसभा में मेरी भावना की प्रार्थना की जाती है।

बी-369, ओ.पी.एम. कालोनी
अमलाई पेपर मिल्स
जिला-शहडोल (म.प्र.)-484117

●●

भक्तामर : ऐतिहासिकता एवं परम्पराभेद

- डॉ. ज्योति जैन

जैनधर्म में भक्तिस्वरूप अनेक स्तोत्रों की रचना की गयी है। इन्हीं भक्ति स्तोत्रों में एक स्तोत्र है 'भक्तामर स्तोत्र'। आज हम देखते हैं कि 'भक्तामर स्तोत्र' लोकप्रियता के प्रथम सोपान पर है यद्यपि इससे अन्य स्तोत्रों की महत्ता या चिन्तन कम नहीं हो जाता है। 'भक्तामर स्तोत्र' जैनों के जन-जन में लोकप्रिय हो गया है। मंदिर जी में अखंड पाठ हो या कुछ घंटों का पाठ, प्रायः इसी स्तोत्र का कराया जाता है। कोई भी शुभ-कार्य करने से पहले श्रद्धालुजन 'भक्तामर' ? जी का पाठ करना या करवाना नहीं भूलते हैं। आजकल घरों में भी इसका पाठ होने लगा है। हमारे 'पूजा-पंडितों' का भी इसे लोकप्रिय बनाने में कुछ कम योगदान नहीं है। जिस तरह से इसे चमत्कारी कहा गया और श्रद्धालु इस पर श्रद्धानत हो गये, कोई आश्चर्य नहीं। 'भक्तामर स्तोत्र' के व्रत, पूजा, विधान, जाप आदि भी प्रचलित हैं। यह भी सत्य है कि इसके प्रभाव से साधकों को अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हुई हैं और लोगों की मनोकामनायें पूरी हुई हैं। सचमुच यह स्तोत्र शताब्दियों से भक्तजनों का कण्ठाभरण रहा है। जैनदर्शन में निष्काम भक्ति को महत्त्व दिया गया है। जैनधर्म में ईश्वर या परमात्मा सृष्टिकर्त्ता नहीं है। जैन स्तोत्रों के रचना के मूल मे जिनेश्वर- भक्ति प्रमुख है। इन रचनाओं में भगवन्, परमेष्ठी या देवी-देवताओं की स्तुति की गयी है लेकिन इनमें निहित भक्ति अन्य भक्ति से भिन्न है इसमें भक्त वीतराग प्रभु को प्रसन्न कर लौकिक या अलौकिक कार्य को सफल करने का उद्देश्य नहीं रखता है। क्योंकि वीतरागी किसी की स्तुति से प्रसन्न या निंदा से कुपित नहीं होते हैं। प्रत्येक जीव को अपने किये कर्मों का फल स्वयं भोगना पड़ता है। कर्मो का कर्त्ता और भोक्ता स्वयं जीव ही है हाँ यह बात अलग है कि भक्ति करके मानव अपने अस्थिर मन को एकाग्र करता है और वीतराग-प्रभु के गुणों का स्मरण कर उन जैसा बनने की प्रेरणा लेता है। एक आत्मिक शांति

का अनुभव करता है। 'वीतरागी भगवान भले ही कुछ न देते हों, किन्तु उनके सान्निध्य में वह प्रेरक शक्ति है जिससे भक्त स्वयं सब कुछ पा लेता है।[1]

विद्वानों ने स्तोत्रों की 'पूजा कोटिसमं स्तोत्रं' कहा है। एक करोड़ बार पूजा करने से जो फल मिलता है वही फल एक बार स्तोत्र-पाठ करने से मिलता है। यत: पूजन करने वाले व्यक्ति का मन पूजन सामग्री एवं अन्य बाह्य क्रियाओं की ओर रहता है पर स्तोत्र का पाठ करने वाला भाव से भगवान के गुणों का स्मरण करता है।

आचार्य मानतुंग कृत 'भक्तामर स्तोत्र' दिगम्बर-श्वेताम्बर आदि और सभी जैन सम्प्रदायों में समान रूप से मान्य है। श्रमण वर्ग और श्रावक वर्ग दोनों ही इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं। यहाँ तक कि अनेक श्रावकों का नियम ही होता है कि वह प्रतिदिन इसे पढ़ें या सुन लें। स्तोत्र का पहला शब्द 'भक्तामर' होने के कारण इसका नाम भक्तामर पड़ा। यह भी कहा जाता है कि यह स्तोत्र अपने भक्तों को अमर बनाने वाला है अर्थात परम्परा से मुक्ति देने वाला है इसीलिए भक्त+अमर=भक्तामर कहते हैं।

'भक्तामर स्तोत्र' के रचयिता आचार्य मानतुंग के जीवन-परिचय के सम्बन्ध में अनेक विचारधारायें प्रचलित हैं। कुछ इतिहास वेत्ताओं ने इन्हें हर्षवर्धन के समकालीन बताया है तो कुछ ने भोजकालीन। इनके सम्बन्ध में अनेक कथानक भी प्रचलित हैं।

'प्रभावक चरित' में मानतुंग के सम्बन्ध में लिखा है-'ये काशी निवासी ध नदेव के पुत्र थे। पहले इन्होंने एक दिगम्बर मुनि से दीक्षा ली थी और इनका नाम चारूकीर्ति महाकीर्ति रखा गया था। अनन्तर एक श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अनुयायिनी श्राविका ने उनके कमण्डलु के जल में त्रस जीव बतलाये, जिससे उन्हें दिगम्बर चर्या से विरक्ति हो गयी और जितसिंह नामक श्वेताम्बराचार्य के निकट दीक्षित होकर श्वेताम्बर साधु हो गये और उसी अवस्था में भक्तामर की रचना की।[2]

भट्टारक सलकचन्द के शिष्य ब्रह्मचारी 'पायमल्ल' कृत 'भक्तामर वृति' में, जोकि विक्रम संवत् 1667 में समाप्त हुई है, लिखा है कि 'धाराधीश भोज की राजसभा में कालिदास, भारवि, माघ आदि कवि रहते थे। मानतुंग ने 48 सांकलों को तोड़कर जैनधर्म की प्रभावना की तथा राजा भोज को जैनधर्म का उपासक बनाया।[3]

आचार्य प्रभाचन्द ने क्रियाकलाप की टीका के अन्तर्गत भक्तामर स्तोत्र टीका की उत्थानिका में लिखा है 'मानतुंगनामा सिताम्बरो महाकवि: निर्ग्रन्थाचार्यवर्यैरपनीतमहाव्याधिप्रतिपन्ननिर्ग्रन्थमार्गो भगवन् किं क्रियतामिति ब्रुवाणो भगवता परमात्मनो गुणगणस्तोत्रं विधीयतामित्यादिष्ट: भक्तामरेत्यादि।'

अर्थात् मानतुंग श्वेताम्बर महाकवि थे। एक दिगम्बराचार्य ने उनको महाव्याधि से मुक्त कर दिया, इससे उन्होंने दिगम्बर मार्ग ग्रहण कर लिया और पूछा-भगवन् अब मैं क्या करूँ? आचार्य ने आज्ञा दी कि परमात्मा के गुणों का स्तोत्र बनाओ, फलत: आदेशानुसार भक्तामर स्तोत्र का प्रणयन किया गया।[4]

भट्टारक विश्वभूषण कृत 'भक्तामर चरित' में भोज, भर्तृहरि, शुभचन्द, कालिदास, धनञ्जय, वररुचि और मानतुंग आदि को समकालीन लिखा है। बताया है आचार्य मानतुंग ने भक्तामर स्तोत्र के प्रभाव से अड़तालीस कोठरियों के तालों को तोड़कर अपना प्रभाव दिखलाया।[5]

वि.सं. 1361 के मेरुतुंगकृत 'प्रबन्ध चिंतामणि' ग्रन्थ में लिखा है कि मयूर और बाण नामक साला बहनोई पंडित थे। वे अपनी विद्वता से एक दूसरे के साथ स्पर्धा करते थे। एक बार बाण पंडित अपने बहनोई से मिलने गया और उसके घर जाकर रात में द्वार पर सो गया। उसकी मानवती बहन रात में रूठी हुई थी और बहनोई रात भर मनाता रहा। प्रात: होने पर मयूर ने कहा-'हे तन्वंगी प्राय: सारी रात बीत चली, चन्द्रमा क्षीण सा हो रहा है, यह प्रदीप मानों निद्रा के आधीन होकर झूम रहा है और मान की सीमा तो प्रणाम करने तक होती है। अहो! तो भी तुम क्रोध नहीं छोड़ रही हो?'

काव्य के तीन पाद बार-बार कहते सुनकर बाण ने चौथा चरण बनाकर कहा-हे चण्डि! कुंचों के निकटवर्ती होने से तुम्हारा हृदय भी कठिन हो गया है।

'गतप्राया रात्रिः कृशतनुः शशिः शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगत घूर्णित इव।
प्रणामान्ते मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो
कुचप्रत्यासत्या हृदयमपि ते चण्डि! कठिनम्।।

भाई के मुख से चौथा चरण सुनकर बहन लज्जित हो गयी और अभिशाप दिया कि तुम कुष्ठी हो जाओ। बाण पतिव्रता के शाप से तत्काल कुष्ठी हो गया। प्रात:काल शाल से शरीर ढककर राजसभा में आया। मयूर ने 'वरकोढ़ी' कहकर उसका स्वागत किया। बाण ने देवताराधन का विचार किया और सूर्य के स्तवन द्वारा कुष्ठरोग दूर किया मयूर ने भी अपने हाथ पैर काट लिये और चण्डिका का 'मां भाक्षी विभ्रमम्' स्तुति द्वारा अपना शरीर स्वस्थ कर चमत्कार उपस्थित किया।

इन चमत्कारों के अनन्तर किसी जैन धर्मद्वेषी ने राजा से कहा कि यदि जैनों में कोई ऐसा चमत्कारी हो तभी जैन यहाँ रहें, अन्यथा इन्हें नगर से निर्वासित कर दिया जाय। मानतुंग आचार्य को बुलाकर राजा ने कहा कि आप अपने देवताओं के कुछ चमत्कार दिखलाइये। आचार्य ने कहा हमारे देवता वीतरागी हैं उनमें क्या चमत्कार हो सकता है। जो मोक्ष चला गया है वह चमत्कार दिखलाने क्या आयेगा? उनके किंकर देवता ही अपना प्रभाव दिखलाते हैं। अत: यदि चमत्कार देखना है तो उनके किंकर देवता से अनुरोध करना होगा। इस प्रकार कहकर अपने शरीर को 44 हथकड़ियों और बेड़ियों से कसवाकर उस नगर के श्री युगादिदेव के मन्दिर के पिछले भाग में बैठ गये। भक्तामर स्तोत्र के प्रभाव से उनकी बेड़ियां टूट गयीं और मन्दिर अपना स्थान परिवर्तित कर उनके सम्मुख उपस्थित हो गया। इस प्रकार मानतुंग ने जिनशासन का प्रभाव दिखलाया।

श्वेताम्बरचार्य गुणाकर ने भक्तामर स्तोत्र वृत्ति, जिसकी रचना वि.सं. 1426 में हुई है, में प्रभावक चरित के अनुसार मयूर और बाण को श्वसुर और जमाता बताया है तथा इनके द्वारा रचित सूर्यशतक और चण्डीशतक का निर्देश किया है। राजा का नाम वृद्धभोज है, जिसकी सभा में मानतुंग उपस्थित हुए थे।[6]

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान डॉ. ए.वी. कीथ ने मानतुंग को बाण का समकालीन अनुमान किया है।[7] उन्होंने भक्तामर की कथा के संबंध में अनुमान किया है कि कोटरियों के ताले या पाशबद्धता संसार बन्ध न का रूपक है। इस प्रकार के रूपक छठीं-सातवीं शताब्दी में अनेक लिखे गये हैं। डॉ. कीथ का अनुमान यदि सत्य है तो इसका रचनाकाल छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध या सातवीं का पूर्वार्द्ध होना चाहिये।

पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने महापुराण की प्रस्तावना पृ. 22 में आचार्य मानतुंग की 7वीं शताब्दी का लिखा है।[8] अगर यही समय है तो आदिपुराण पर्व 7 श्लोक 293 से 311 का जो वर्णन भक्तामर स्तोत्र से मिलता हुआ है वह संभव है आचार्य जिनसेन ने भक्तामर स्तोत्र से लिया हो।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं. गौरीशंकर हीराचन्द ने अपने 'सिरोही का इतिहास' नामक ग्रन्थ में मानतुंग का समय हर्षकालीन माना है।

सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं. नाथूराम प्रेमी, जिन्होंने विश्वभूषण भट्टारक के भक्तामर चरित को प्रमाणभूत मानकर धाराधीश भोज, कालिदास, धनंजय मानतुंग, भर्तृहरि आदि भिन्न-भिन्न समयवर्ती विद्वानों को समकालीन बताने का प्रयत्न किया था। परन्तु जब भट्टारकों द्वारा निर्मित कथा साहित्य की ऐतिहासिकता पर सन्देह होने लगा तब आठ-दस वर्ष बाद उन्होंने अपनी ही बातों का प्रतिवाद कर दिया। "प्रेमीजी ने मानतुंग आचार्य को हर्षकालीन माना है।"[10]

इस प्रकार हम देखते हैं कि परस्पर विरोधी आख्यानों के कारण आचार्य

मानतुंग का समय विवादास्पद है। इस समय को उलझाने में उन मनगढ़ंत कथाओं का योगदान है जो इस स्तोत्र के संबंध में प्रचलित हैं। भट्टारकादिकों ने इस सरल और वीतराग स्तोत्र को भी मंत्रतंत्रादि और उनकी कथाओं के जाल में फंसाकर दिया। ये मनगढ़ंत कथायें कितनी असंगत परस्पर विरोधी है यह स्पष्ट दिखाई देता है। किसी कथा में मानतुंग को राजा भोज के समय का बताया, तो किसी में कालिदास के, किसी में बाण मयूर के समय में बता दिया गया। यह कथा भी वीतरागता के विपरीत लगती है कि राजा ने कुपित होकर मानतुंग को ऐसे कारागृह में बंद करवा दिया जिसमें 48 कोठे थे प्रत्येक कोठे में एक एक ताला था। एक वीतरागी साधु को जिसके पास कोई शस्त्रादि नहीं कैसे कोई राजा ऐसा दंड दे सकता है और 48 श्लोक इसीलिये 48 कोठे, 48 ताले। यदि कम श्लोक होते तो? श्वेताम्बर सम्प्रदाय तो 44 श्लोक ही मानते हैं। इस तरह अनेक विरोधाभास इन कथाओं में है।[10]

श्री जिनेन्द्र वर्णी ने भक्तामर का समय 11वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना है।[11]

आचार्य मानतुंग कृत भक्तामर स्तोत्र एक प्राचीनतम स्तोत्र है। यह आचार्य मानतुंग की एक मात्र रचना है। यह आदिनाथ स्तोत्र भी कहलाता है। इस स्तोत्र की यह विशेषता है कि इसे किसी भी तीर्थंकर की भक्ति में मनन किया जा सकता है। काव्य की दृष्टि से इसके 48 काव्य, भक्ति एवं दर्शन को प्रकट करते हैं। समस्त स्तोत्र वसन्ततिलका छन्द में लिखा गया है। पद्यों में उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकारों का समावेश दर्शनीय है। भक्तामर स्तोत्र पर अनेक संस्कृत टीकायें लिखी गयी हैं। हिन्दी एवं अनेक भाषाओं में इसके गद्य एवं पद्यानुवाद उपलब्ध हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों ने इसे अपने-अपने रूप में प्रतिष्ठा दी है।

प्राय: हस्तलिखित ग्रन्थों में भक्तामर स्तोत्र के 48 काव्य ही मिलते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्तोत्र के 32 से 35 तक के चार श्लोक नहीं मानते हैं। क्योंकि इन पद्यों में दुन्दुभि, पुष्प-वृष्टि, भामण्डल और दिव्यध्वनि का वर्णन

हुआ है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आठ प्रातिहार्य स्वीकार किये गये हैं, फिर इन चार प्रातिहार्यों वाले श्लोकों को स्वीकार क्यों नहीं किया गया यह विचारणीय है।

श्वेताम्बर स्थानकवासी कविवर 'मुनि अमरचन्द जी' ने पूरे 48 श्लोक मानकर ही भक्तामर का हिन्दी पद्यानुवाद किया है।

इधर दिगम्बर सम्प्रदाय ने चार नये पद्य जोड़कर इनकी संख्या 52 गढ़ ली है। 'अनेकान्त' वर्ष 2 किरण-1 के अनुसार बाद में जोड़े गये चार पद्य निम्न हैं-

'नातः परः परमवचोभिधेयो
लोकत्रयेऽपि सकलार्थविदस्ति सार्वः।
उच्चैरितीव भवतः परिघोषयन्त-
स्तेदुर्गभीरसुरदुन्दुभयः सभायाम्॥1॥
वृष्टिर्दिवः सुमनसां परितः परात्
प्रीतिप्रदा सुमनसां च मधुव्रतानाम्।
राजीवसा सुमनसा सुकुमारसारा
सामोदसम्पदमदाज्जिन ते सुदृश्यः॥2॥
पूष्मामनुष्य सहसामपि कोटिसंख्या
भाजां प्रभाः प्रसरमन्वहया वहन्ति।
अन्तस्तयः पटलभेदयशक्तिहीनं
जैनी तनुद्युतिरशेषतमोऽपि हन्ति॥3॥
देवत्वदीयसकलामल केवलाय
बोधांतिगाधनिरूप।
घोषः स एव इति सज्जनतानुमेते
गम्भीरभारभरितं तव दिव्यघोषः॥4॥

किन्तु इन श्लोकों में भी प्रातिहार्यों का वर्णन होने से ये पुनरुक्त हैं, अतः असंगत है। लगता है कि लेखक ने बिना देखे ही, केवल यह सुनकर कि

श्वेताम्बर परम्परा में चार प्रातिहार्यों वाले चार श्लोक कम कर दिये गये हैं।' इन चार श्लोकों की रचना कर दी। जबकि अड़तालीसवें काव्य में काव्य समाप्ति की सूचना स्पष्ट है।

प्रसिद्ध जैन विद्वान् श्री मिलापचन्द्र कटारिया के पास उपलब्ध गुटकों में उक्त चार श्लोकों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के चार श्लोक उल्लिखित हैं। यही चार श्लोक जैन मित्र फाल्गुन सुदी 6 वीर सं. 2486 के अंक में छपे थे। श्लोक निम्न हैं -

'यः संस्तुवे गुणभृतां सुमनो विभाति,
यः तस्करा विलयतां विबुधाः स्तुवन्ति।
आनन्दकन्द हृदयाम्बुजकोशदेशे,
भव्या व्रजन्ति किल या भर देवताभिः॥1॥
इत्थं जिनेश्वर सुकीर्तयतां जिनोति,
न्यायेन राजसुखवस्तुगुणा स्तुवन्ति।
प्रारम्भभार भवतो अपरापरां या,
सा साक्षणी शुभवशो प्रणमामि भक्त्या॥2॥
नानाविधं प्रभुगुणं गुणरत्न गुण्या
रामा रमन्ति सुरसुन्दर सौम्यमूर्तिः।
धर्मार्थकाम मुनयो गिरिहेमरत्नाः
उध्यापदो प्रभुगुणं विभवं भवन्तु॥3॥
कर्णौ स्तुवेन नभवानभवत्यधीश
यस्य स्वयं सुरगुरु प्रणतोसि भक्त्या
शर्मार्थनोक यशसा मुनिपद्मरंगा
मायागतो जिनयतिः प्रथमो जिनेशाः॥4॥[12]

पर ये भी मूलग्रन्थाकार कृत नहीं है, क्योंकि 48वें पद्य में ही स्तोत्र का फल बताकर समाप्त कर दिया गया है। ये अतिरिक्त श्लोक भी, जो बाद में बनाये गये, असंगत प्रतीत होते हैं।'

इनके सिवाय श्री मिलापचन्द कटारिया के पास ही उपलब्ध, गुटकों में चार श्लोक और अतिरिक्त हैं, जिन्हें 'बीज काव्य' लिखा गया है, पर ये भी मूल स्तोत्रकार कृत नहीं हैं क्योंकि प्रथमतः ये 48 श्लोकों के अतिरिक्त हैं। द्वितीयतः स्वयं लेखक ने ही इन्हें बीजकाव्य कह दिया है। 'बीजकाव्य' श्लोक निम्न हैं -

बीजकं काव्यम् -

ओं आदिनाथ अर्हन्सुकुलेवतंसः
श्रीनाभिराज निजवंश शशि प्रतापः।
इक्ष्वाकुवंश रिपुमर्दन श्रीविभोगी
शाखा कलापकलितो शिव शुद्धमार्गः॥1॥
कष्ट प्रणाश दुरिताप समावनाहि-
अंभोनिधौ दुरवय तारक विघ्नहर्ता।
दुःखाविनारि भय भग्नति लोह कष्टं
तालोर्द्धघाट भयभीत समुत्कलापाः॥2॥
श्रीमानतुंगगुरुणा कृतबीजमंत्रः
यात्रा स्तुतिः किरण पूज्य सुपादपीठः।
भक्तिभरो हृदयपूर विशाल यात्रा-
कौ धौ दिवाकर समांवनितांजनाह्रीं॥3॥
त्वं विश्वनाथ पुरुषोत्तम वीतरागः
त्वं नैनंरागकथिता शिवशुद्धमार्गा।
त्वौच्चाट भंजनवपुःखल दुःखहाब्जान्
त्वं मुक्तिरूप सुदया पर धर्मपालान्॥4॥[13]

समस्यापूर्ति साहित्य की पुरानी विधा है। परवर्ती काल में भक्तामर काव्य इतना प्रसिद्ध हुआ कि मुनि रत्नसिंह ने भक्तामर के प्रत्येक पद्य की चौथी पंक्ति लेकर 'प्राणप्रिय काव्य' की रचना की। इस प्रकार प्राणप्रिय काव्य में अड़तालीस श्लोक हैं। प्रत्येक श्लोक की तीन पंक्तियां मुनि रत्नसिंह रचित हैं

और चतुर्थ पंक्ति भक्तामर की है।

मुनि रत्नसिंह दिगम्बर सम्प्रदाय के मुनि हैं क्योंकि उन्होंने 48 पद्यों की समस्यापूर्ति की है। इनका समय क्या है अभी निश्चित नहीं है। इसका पहला पद्य 'प्राणप्रियं नृप सुता' से प्रारम्भ होता है इसीलिये इसे 'प्राणप्रिय' काव्य कहा गया है। पं. नाथूराम प्रेमी ने इसके तीन पद्य जैन साहित्य और इतिहास में दिये हैं जिन्हें हम साभार यहां दे रहे हैं।

प्राणप्रियं नृपसुता किलं रैक्ताद्रि
श्रंगाग्रसंस्थितमवोचदिति प्रगल्भ्यम्।
अस्मादृशामुदितनील-वियोगरूपेऽ-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम्॥
तत्किं वदामि रजनीसमये समेत्य
चन्द्रांशवो मम तनुं परितः स्पृशन्ति।
दूरे धवे सति विभो परदारशक्तान्
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम्॥

पूर्वे मया सह विवाहकृते सभागाः
मुक्तिस्त्रियास्त्वमधुना च समक्षतोऽसि।
चेच्चञ्चलं तव मनोऽपि वभूव हा तत्
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्॥

अन्तिम 49वें पद्य में मुनि रत्नसिंह ने अपना परिचय देते हुये लिखा है कि-'सिंह संघ के अनुयायी धर्मसिंह के चरण कमलों में भ्रमर के समान अनुरक्त मुनि रत्नसिंह ने यह नेमिनाथ का वर्णन करने वाला काव्य बनाया -

श्रीसिंहसंघसविनेयक-धर्मसिंह
पादारबिन्दमधुलिड्मुनिरत्नसिंहः।
भक्तामरस्तुति चतुर्थपदं गृहीत्वा,
श्री नेमिवर्णनमिदं विदधे कवित्वम्॥[14]

यह तो एक बानगी मात्र मैंने प्रस्तुत की है, वस्तुतः भक्तामर पर इतनी टीकायें और अनुवाद लिखे गये हैं इनकी चर्चा कर पाना इस छोटे से लेख में असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है। एक अनुमान के अनुसार लगभग डेढ़ सौ संस्कृत, हिन्दी टीकायें और अनुवाद इस स्तोत्र पर हुये हैं। कुछ प्रमुख टीकाओं के नाम यहाँ प्रस्तुत कर रही हूँ।

'भक्तामर स्तोत्र टीका' नाम से गुणरत्नसूरि, कनककुशल, अमरप्रभसूरि, शान्तिसूरि, मेघविजयोपाध्याय, रत्नचन्द्र, समयसुन्दरोपाध्याय, इन्द्ररत्न मणि, चन्द्रकीर्तिसूरि, हरितिलक गणि, क्षेमदेव आदि ने इस स्तोत्र पर टीकायें लिखी हैं। इसी प्रकार मेरुसुन्दरोपाध्याय, शुभवर्धनगणि, लक्ष्मीकीर्ति ने 'भक्तामर स्तोत्र बालावबोध' नाम से अपनी टीकायें लिखी हैं।

इस स्तोत्र के चमत्कार एवं प्रसिद्धि को ध्यान में रखकर कथा, चरित्र या माहात्म्य को प्रकट करने वाली कथायें भी लिखी गयी हैं। इनमें प्रसिद्ध हैं-ब्रह्मरायमल्ल की 'भक्तामर स्तोत्र कथा' श्री भूषण की 'भक्तामर स्तोत्र पूजा' शुभशील का 'भक्तामर स्तोत्र माहात्म्य', ज्ञानभूषण, सुरेन्द्रकीर्ति और सोमसेन के 'भक्तामर स्तोत्र व्रतोद्यापन' अज्ञात कवि कृत 'भक्तामर स्तोत्र पंचांग विधि'।

इस स्तोत्र पर लिखे गये 'पादपूर्ति स्तोत्र' और 'छाया स्तवनों' की संख्या भी कम नहीं है। कुछ प्रमुख हैं-भावप्रभसूरि कृत 'नेमिभक्तामर स्तोत्र', समयसुन्दरोपाध्याय कृत 'ऋषभ भक्तामर स्तोत्र', लक्ष्मीविनल कृत 'शान्तिभक्तामर स्तोत्र', विनयलाभ कृत 'पार्श्व भक्तामर स्तोत्र' धर्मवर्धनोपाध्याय कृत 'वीर भक्तामर स्तोत्र' धर्मसिंह सूरि कृत 'सरस्वती भक्तामर स्तोत्र' पं. हीरालाल कृत 'भक्तामर पाद पूर्ति' पं. गिरधर शर्मा कृत 'भक्तामर पादपूर्ति स्तोत्र' माल्लिषेण कृत 'भक्तामर पादपूर्ति स्तोत्र' माल्लिषेण कृत 'भक्तामर स्तोत्र छाया स्तवन' आदि हिन्दी भाषा में 'भक्तामर स्तोत्र' के गद्यमय और पद्यमय शताधिक अनुवाद हुये है। आज स्थिति यह है कि लोगों को संस्कृत भाषा में भक्तामर स्तोत्र आता हो या न आता हो। हिन्दी भक्तामर को कंठस्थ किये हुये अनेक

भक्त सर्वत्र मिल जायेंगे।

सन्दर्भ

1. डॉ. प्रेमसागर जैन, जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि, पृ. 29।
2. प्रभावक चरितं के अन्तर्गत मानतुंगसूरिचरितम्, पृ. 112-117 (संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान पृ. 500)।
3. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, द्वितीय खंड पृष्ठ 268।
4. वही पृ. 268।
5. भक्तामर चरित्र की उत्थानिका में शुभचन्द्र और भर्तृहरि की एक लंबी कथा दी है यह कथा ज्ञानार्णव के प्रारंभ में प्रकाशित हुई है (देखे-जैन साहित्य और इतिहास, पं. नाथूराम प्रेमी, पृ. 440)।
6. इस कथा का संकेत संस्कृत के प्रसिद्ध काव्य शास्त्री आचार्य मम्मट के 'काव्य प्रकाश' में भी पाया जाता है। प्रथम उल्लास में काव्य के प्रयोजन बतलाते हुये 'शिवेतरक्षतये' के उदाहरण में लिखा है-'आदित्यादेर्मयूरादीना- मिवानर्थनिवारणम्' अर्थात् जैसे सूर्य शतक से मयूर के अनर्थ का निवारण हुआ था वैसे ही काव्य से अनर्थ का निवारण होता है। व्याख्या ग्रन्थों में बाणभट्ट को बहनोई और मयूरभट्ट को साला बतलाया गया है। मयूरभट्ट को सूर्य शतक की रचना करते हुये दिखाया गया है। (देखें-'काव्यप्रकाश' ज्ञानमण्डल लि. वाराणसी प्रथम उल्लास)।
7. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ. 214-215।
8. महापुराण (आदिपुराण) अनु. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य पृ. 22।
9. देखें-जैन साहित्य और इतिहास पृ. 451 पर प्रेमी जी का नोट।
10. जैन निबंध रत्नावली, श्री मिलाप चन्द कटारिया पृ. 342।
11. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग 3, पृ. 208।

12. जैन निबंध रत्नावली पृ. 340।

13. वही पृ. 341।

14. जैन साहित्य और इतिहास पृ. 524।

-कुन्दकुन्द जैन (पी.जी.) कालेज
खतौली (उ.प्र.)

●●

रात्रि-भोजन पाप है

- डॉ. सुषमा अरोरा

प्राचीन भारतीय परम्परा में हितायु और सुखायु से सम्पन्न दीर्घायुष्य की कामना सदा की गयी है। वैदिक परम्परा में दीर्घ जीवन के साथ अदीन रहने की कामना भी निरन्तर की गयी है।[1] दैन्यरहित जीवन जीने के लिए स्वास्थ्य का सर्वाधिक महत्त्व है। चरक के अनुसार स्वास्थ्य में हानि का कारण मुख्यत: तृष्णा, प्रज्ञापराध एवं आहार-विहार की अनियमितता है और वहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि प्रज्ञापराध से बचकर तथा नियमित आहार-विहार करके ही मनुष्य आरोग्य को प्राप्त करता है।[2] श्रीमद्भगवद्गीता में भी समुचित आहार-विहार एवं सुप्रज्ञता से प्रसूत प्रशस्त कर्मो के द्वारा मनुष्य दु:खों से मुक्त होता है, ऐसा स्वीकार किया गया है। जैन परम्परा में भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय को सुखायुष्य और हितायुष्य के लिए ही नहीं, कैवल्य की प्राप्ति के लिए भी आवश्यक माना गया है, जिसका प्रतिफलन युक्त आहार-विहार के रूप में ही होता है और उसका ही अति प्रशस्त रूप विविध व्रतों के रूप में सम्यक् चारित्र में परिगणित है।

जैन परम्परा में सम्यक् चारित्र की प्रतिष्ठा हेतु जिन अनेक व्रतों की चर्चा हुई है. उनमें पाँच अणुव्रत या महाव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त वहाँ ग्यारह प्रतिमाओं का भी उल्लेख हुआ है, जो व्रतों से बहुत दूर नहीं है। जैन आचार्यों में कुछ ने ग्यारह प्रतिमाओं के अन्तर्गत और कुछ ने महाव्रतों के साथ रात्रि-भोजन के त्याग को भी अनिवार्य व्रत के रूप में स्वीकार किया है। रात्रि भोजन-त्याग के मूल में अनेक दृष्टियाँ विद्यमान हैं, जिनमें अहिंसा महाव्रत अथवा अणुव्रत के समग्र निर्वाह के साथ-साथ स्वास्थ्य-रक्षा भी अन्यतम है। चिकित्साशास्त्र के अनेक ग्रन्थों में सूर्यास्त से पूर्व भोजन की प्रशंसा की गयी है। स्वास्थ्य-रक्षा के लिए आवश्यक मानकर ही कनाडा जैसे कुछ सुविकसित देशों में सायंकाल छ: बजे अनिवार्य रूप से सायंकालीन भोजन ले लेने की परम्परा प्रचलित है। ग्रहण किये गये आहार के

पाचन के लिए सूर्य की किरणों का विशेष महत्त्व है। स्वरयोग के परम्परागत ग्रन्थों में सूर्यनाड़ी में श्वास-प्रश्वास के प्रवाहित रहने पर ही भोजन लेने की व्यवस्था सूर्य से पाचन का सम्बन्ध प्रमाणित करती है।

पद्मनन्दि के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ को आठ मूलव्रतों (गुणों), अहिंसा आदि पांच अणुव्रतों, शील आदि तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों के साथ रात्रिभोजन-निषेध का सम्पूर्ण शक्ति से पालन करना चाहिए। ऐसा करने से ही विविध पुण्यों का परिणाम श्रावक को मिल पाता है।[4] रात्रिभोजन निषेध का कारण बताते हुए श्रावकाचार सारोद्धार के लेखक पद्मनन्दि मुनि ने स्वीकार किया है कि सूर्य तेजोमय है, उसकी किरणें निरन्तर भौतिक और अभौतिक जगत् को पवित्र करती रहती हैं, इसलिए भोजन ही नहीं, अपितु समस्त शुभ कर्मों का सम्पादन सूर्य की किरणों के प्रसार के समय ही करना चाहिए।[5] इस तथ्य को ही और अधिक स्पष्ट करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि रात्रि में स्नान, दान, देवपूजन, भोजन, खदिर अथवा ताम्बूल का प्रयोग नहीं करना चाहिए।[6] इतना ही नहीं, बुद्धिमान् लोग तो किसी भी प्रकार के शुभकर्म दिन-समाप्ति के बाद नहीं किया करते। रात्रि तो वस्तुतः दोष-निलय है।[7] सम्भवतः इसी कारण रात्रि को 'दोषा' नाम से भी स्मरण किया जाता है।[8] जैन परम्परा में यह भी माना गया है कि यति जनों के साथ संसर्ग अथवा सत्संग तथा गुरुदेव पूजन भी रात्रि में नहीं करना चाहिए। ऐसी स्थिति में रात्रि में भोजन-ग्रहण तो संयम का विनाशक ही होगा। रात्रि में भोजन का निषेध अथवा शुभकार्यों के निष्पादन का निषेध इसलिए भी उचित प्रतीत होता है कि सूर्य के अभाव में अनेक सूक्ष्म जीव-जन्तु, जो अन्धकार में ही विचरण करते हैं, कि हिंसा अथवा भोजन के साथ उनका भक्षण भी सम्भावित बना रहता है।[9] एक स्थान पर कुन्दकुन्दाचार्य ने संकेत किया है कि रात्रि में सूर्यकिरणों का संचार न होने पर नभोमंडल में प्रेतगण संचरण करते हैं। सूक्ष्म जीव-जन्तु उस समय ही विहार करते हैं। अतः रात्रि का भोजन विविध रोगों को उत्पन्न करने वाला हो सकता है।[10] इस काल में भोजन ही नहीं, सामान्य जल का पीना भी हानिकर होता है।[11] यही कारण है कि मुनिजनों ने दिन में भोजन करने और रात्रि में विश्राम करने का निर्देश किया है।[12]

जैन परम्परा में यह स्वीकार किया गया है कि देव, ऋषि, पितर, दैत्य और दानव इनके आहार का समय प्रायः अलग-अलग है। देवगण पूर्वाह्न में आहार ग्रहण करते हैं, ऋषिगण मध्याह्न में और पितर अपराह्न में। सन्ध्या समय अथवा उसके बाद तो दैत्य-दानव ही आहार लेते हैं। अतः उत्तम लोग देवताओं के सदृश केवल एक बार पूर्वाह्न में भोजन लेते हैं। मध्यम जन दिन में किसी समय एक या अनेक बार भोजन ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु सायांह्न और रात्रि में तो अधम जन ही भोजन ग्रहण करते हैं।[13]

जैन परम्परा के अनुसार प्रातःकाल सूर्योदय के उपरान्त दो घड़ी तक और सायंकाल सूर्यास्त से पूर्व दो घड़ी तक का समय सन्ध्या तक सूर्यास्त से लेकर सूर्योदय पर्यन्त का समय रात्रि माना जाता है।[14]

रात्रि-भोजन-निषेध के क्रम में अहिंसाव्रत पालन को मूलबिन्दु के रूप में रखा गया है और इसी कारण कहीं-कहीं उसे (रात्रिभोजन को) मांसभोजन के समान निन्दित कहा गया है,[15] तो कहीं रात्रिभोजन के समय हिंसा की सम्भावना का अनुभव किया गया है।[16] समाज में कुछ लोग भोजन के प्रसंग में दिन और रात्रि में कोई अन्तर नहीं समझते। आचार्य अमितगति के अनुसार ऐसे लोग मानो प्रकाश और अन्धकार का भी अन्तर नहीं समझते।[17] ब्राह्मण परम्परा में शिवभक्त त्रयोदशी तिथि में प्रदोषव्रत करते हैं। इस व्रत में दिनभर उपवास करके रात्रि के प्रथम प्रहर (प्रदोषकाल)[18] में भोजन-ग्रहण करते है और इससे अतिशय पुण्य की आशा करते हैं। इस प्रसंग में अमितगति की मान्यता है कि उनका यह कार्य (व्रत) पुण्य नहीं, पाप देने वाला है। उनका यह कार्य ऐसा है, मानों वृक्ष लगाकर उसकी वृद्धि के लिए उसके चारों ओर अग्नि प्रज्वलित की जा रही हो।[19]

आचार्य पद्मनन्दि मुनि सूर्यास्त के बाद के समय की तुलना उस सृतक से करते हैं, जिसे प्रत्येक परिवार में किसी स्वजन की मृत्यु के बाद माना जाता हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी स्वजन की मृत्यु हो जाने पर परिवार में सूतक-काल मानकर कोई भी पुण्य कार्य नहीं किये जाते, यहाँ तक कि दूसरों को भोजन भी नहीं कराया जाता, उसी प्रकार लोक-लोकान्तर के स्वामी दीनानाथ के अस्तंगत होने पर भी सूतक अर्थात् अपुण्यकाल मानना चाहिए

और उस काल में भोजन अथवा समस्त पुण्यकर्मों का त्याग करना चाहिए।[20]

इस्लाम में रमजान के महीने में रोज़ा रखने की परम्परा है, जिसमें पूरे महीने भर दिन में भोजन नहीं किया जाता और सूर्यास्त के बाद रात्रि में तथा सूर्योदय से कुछ समय पूर्व तक भोजन ग्रहण करने का नियम है। जैन परम्परा में इस पर कठोर कटाक्ष किया गया है। उनकी दृष्टि से ऐसा काना मानो जल को विपरीत दिशा में अर्थात् ऊपर की ओर प्रवाहित करना है। चिन्तामणि को छोड़कर खली (मिट्टी) का टुकड़ा उठा लेना है। अथवा समस्त सुख-साध न देने वाले कल्पवृक्ष को अग्नि में समर्पित कर देना है।[21]

रात्रि-भोजन-निषेध के प्रसंग में गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए दो स्थितियों की सम्भावना की गयी है। प्रथम यह कि स्वास्थ्यरक्षा की कामना से चिकित्सक के निर्देश पर प्रतिदिन सूर्यास्त से पूर्व भोजन करना अथवा रात्रि मे प्रकाश आदि की व्यवस्था का सर्वथा अभाव होने से सुविधा की दृष्टि से सन्ध्या से पूर्व भोजन करना दूसरी स्थिति है कि दोनों सन्ध्या समयों को सम्मिलित करते हुए रात्रि में भोजन-त्याग का व्रत लेकर रात्रि में भोजन न करना। इन दोनों स्थितियों मे व्रतपूर्वक रात्रि-भोजन-त्याग ही पुण्य फलदायी होता है, विवशतापूर्वक रात्रिभोजन-निवृत्ति का कोई पुण्यफल नहीं मिलता।[22] रात्रिभोजन त्याग में खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय चारों प्रकार के भोज्य पदार्थों का उपयोग सम्मिलित किया जाता है।[23]

मुनि अभ्रदेव ने रात्रिभुक्ति अर्थात् रात्रिभोजन निषेध को रात्रिकाल मे चतुर्विध (खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय) भोज्य के त्याग तक ही सीमित नही रखा है। उन्होंने परस्त्रीविमुखता, दिवा-मैथुन-निषेध एवं स्वदार सन्तुष्टि को भी इसको सीमा में सम्मिलित करना चाहा है।[24] यद्यपि इन्हें (परस्त्रीविमुखता आदि को) ब्रह्मचर्य अणुव्रत के मध्य गिनना अधिक उचित है।

रात्रि-भोजन क्यों न किया जाए, इस संदर्भ में श्रावकाचार सम्बन्धी ग्रन्थों में एक ही तर्क दिया गया है, वह है व्रत-रक्षा। भव्य धर्मोपदेश उपासकाध्ययन के लेखक महामुनि जिनदेव के अनुसार रात्रिभोजन के परिहार से सागार और अनगार अर्थात् श्रावक और मुनिजन दोनों के ही समस्त व्रतों की रक्षा होती है।

यत: मुनिजन अन्य विविध नियमों में बंधे रहते हैं, अत: उनके व्रतों की रक्षा तो अन्यथा भी हो सकती है; परन्तु श्रावकों के अणुव्रत की रक्षा के लिए रात्रिभोजन-निषेध तो अत्यन्त आवश्यक है।[25] जिनदेव मुनि के अतिरिक्त अन्य अधिकांश आचार्यों ने भी स्वीकार किया है कि रात्रिभुक्ति परिहार से मुख्यत: अहिंसाव्रत का पालन होता है।[26] रात्रिभोजन-निषेध से अहिंसा की निवृत्ति कैसे होती है, इस प्रसंग में जैन आचार्यो ने दो तर्क दिये हैं-प्रथम तो यह है कि सूर्य के प्रकाश के अभाव में भोजनकर्ता यह नहीं देख पाता कि भोजन में अभक्ष्य पदार्थ पड़ गये हैं अथवा जीव-जन्तुओं का प्रवेश हो गया है। फलत: अनजाने ही उनके द्वारा भोजन में प्रविष्ट हो गये कीट-पतंगों की हिंसा हो जाती है।[27] यदि प्रकाश के लिए दीपक आदि का प्रयोग किया जाता है, तो सर्वत्र अन्धकार की स्थिति में दीपक पर कीट-पतंगों का आगमन अनायास ही अत्यधिक होता है, वर्षा ऋतु में तो वह और भी अधिक बढ़ जाता है। इस प्रकार दीपक-प्रकाश में हिंसा के बढ़ने की ही सम्भावना है, घटने की नहीं।[28] रात्रिभोजन-परिहार से हिंसा की निवृत्ति का दूसरा कारण है रागादि मनोभावों पर विजय प्राप्त करने का प्रयास। भोजन के प्रति राग के कारण ही मनुष्य दिन-रात की परवाह किये बिना चाहे जब चरता रहता है। रात्रिभोजन-निषेध का व्रत लेने के अनन्तर वह (व्रती) सामान्यत: 34 घड़ी अर्थात् 14 घंटे भोजन के प्रति अपने राग को नियंत्रित करने का प्रयास करता ही है। अत: रागादि पर विजय पाने से अहिंसा की रक्षा अनायास होने लगती है।[29] भोजन विषयक राग पर नियंत्रण न होने पर सामान्य मनुष्य अन्न आदि भोज्य पदार्थो के साथ ही मांसाहार के प्रति भी भगवान् हो जाता है और उस स्थिति में अहिंसा की साध ना कैसे चल सकती है।[30] इस प्रकार रात्रिभोजन-परिहार श्रावक को हिंसाओं की सम्भावनाओं से सुरक्षित रखता है।

रात्रिभोजन-परिहार की महत्ता देखते हुए जैन आचार्यों ने इस पर बहुत अधिक बल दिया है। महामुनि अमितगति के अनुसार जो व्यक्ति दिन-रात चरता रहता है अर्थात् रात्रिभोजन-परिहार का व्रत नहीं करता, वह सींग, पूंछ और खुर रहित पशु ही है।[31] आचार्य वसुनन्दि के अनुसार इस व्रत का पालन न करने से सर्वत्र परिभव और चतुर्दिक संसार-सागर के दु:खों की पीड़ा भोगनी पड़ती है।[32] मुनि पूज्यपाद के अनुसार संसार में जो लोग पुत्र, पति आदि

से रहित दुर्भाग्यग्रस्त दिखायी पड़ते हैं, जो अंगहीन हैं अथवा जिनके दास भी कठोर और कटुभाषी हैं, उनकी ये सब पीड़ाएं रात्रिभुक्ति परिहार के अभाव के कारण ही होती हैं। इतना ही नहीं, उन्हें विविध व्याधियों की पीड़ा, बन्धु जन-वियोग, दरिद्रता आदि अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं।[33] आचार्य अमितगति की भी प्राय: यही मान्यता है। उनका कथन है कि शारीरिक व्यसनों की पीड़ा, सर्पादि से भय, निर्धनता, नीचकुल में जन्म अथवा नीच व्यक्तियों की संगति, संकुचित मनोवृत्ति का होना, चरित्र में शील, शौच आदि का अभाव, विविध रोग, दुर्जनों से प्राप्त पीड़ा आदि बहुविध पीड़ाएं रात्रिभोजन परिहार व्रत का पालन न करने के कारण होती हैं।[34] उनका यह भी कहना है कि रोग-शोक से युक्त, कलहकारिणी, राक्षसी के समान भय उत्पन्न करने वाली पत्नी अथवा दु:खी, दुश्चरित्र और रोगी कन्या का होना आदि कष्ट भी इस व्रत का पालन न करने के कारण ही प्राप्त होते हैं।[35] जैन आचार्यों की यह भी मान्यता है कि जो व्यक्ति रात्रिभोजन परिहार-व्रत का पालन नहीं करता, उसे कौआ, उल्लू, गिद्ध, सांप, बिच्छू, बिल्ली, सुअर आदि नीच योनियों में जन्म लेना पड़ता है। यदि कदाचित् कुछ पूर्व पुण्य से मनुष्ययोनि भी मिली तो नीचकुलों में जन्म, पुत्रहीनता, निर्धनता आदि दु:खों को भोगना पड़ता है।[36]

श्रावकाचार सम्बन्धी ग्रन्थों में रात्रिभोजन-परिहार व्रत की अत्यधिक प्रशंसा की गयी है। उनके अनुसार जो व्यक्ति दिनारम्भ और दिनावसान दोनो की दो-दो घड़ी और रात्रि में भोजन का परिहार करता है, वह मोह-पाश को भंग करता हुआ भवसागर को अनायास पार कर लेता है। वह जब तक संसार में रहता है, उसे सर्वाधिक सुख प्राप्त होते हैं। कमलनयनी, प्रियवादिनी, मनोरमा, लक्ष्मी सदृश प्रियतमा उसे जीवन भर सुख देती है। उसकी सर्वांग सुन्दरी कन्यायें कुलमर्यादा को निर्वाह करती हुई उसे पुण्य जन्म की पंक्ति में प्रतिष्ठित करती हैं।[37] महामुनि पूज्यपाद के अनुसार रात्रिभोजन परिहार-व्रत के पालन के फलस्वरूप ही सर्वविध सौंदर्य और स्वास्थ्य से युक्त, दिव्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर सांसारिक सुख-भोग का अवसर मनुष्यों को मिलता है। वे यह भी मानते हैं कि इस लोक में जो समादरणीय नृपति जन हैं, उन्हें भी यह सौभाग्य रात्रिभोजन परिहार के कारण ही प्राप्त हुआ है।[38] जीवन में धनसम्पत्ति, पदप्रतिष्ठा, मोहमार्ग की अनुगामिता और मुनिभाव की

प्राप्ति भी इस व्रत के पालन से ही मिलती है, यह भी जैन आचार्य स्वीकार करते हैं।[39] जैन आचार्यों के अनुसार आज लोक में जो स्त्रियां बन्धु-बान्धवों से समादृत, पुत्रों से वन्दित, सर्वविध वस्त्राभूषणें से भूषित, व्याधियों से वर्जित, श्रीमती, लज्जावती, बुद्धिमती, धर्मपरायणा और सदा सुख भोगने वाली हैं, जिन्हें पति से बहुविध सम्मान और प्रेम प्राप्त है, यह सब सौभाग्य रात्रिभोजन-परिहार-व्रत के पालन से ही उनको मिलता है, सह समझना चाहिए।[40] रात्रिभोजन-परिहार की महिमा के प्रसंग में जैन आचार्यो की मान्यता है कि इस व्रत के पालन से न केवल प्रतिमास एक पक्ष पर्यन्त अर्थात् जीवन के आधे भाग में व्रत-उपवास करने का फल प्राप्त होता है, अपितु बहुविध व्रत-दान आदि असंख्य पुण्यों का फल उन्हें मिलता है।[41] एक स्थान पर महामुनि अमितगति यह भी कहते हैं कि इस महिमाशाली व्रत के पालन से उत्पन्न पुण्यराशि का वर्णन करना, सामान्य मनुष्य के सामर्थ्य से बाहर है, उसका वर्णन तो जिननाथ ही कर सकते हैं-

रात्रिभोजनविमोचिनां गुणा ये भवन्ति भवभागिनां परे।
तानपास्य जिननाथमीषते वक्तुमत्र न परे जगत्त्रये।।[42]

कहने का तात्पर्य यह है कि जैन-परम्परा में रात्रि-भोजनपरिहार की महिमा का बारम्बार गान किया गया है और इस व्रत को अहिंसा आदि व्रतो के पालन में अनिवार्य मानते हुए उनके समान ही समादृत किया गया है।

सन्दर्भ

1. पश्येम शरद: शतम् जीवेम शरद: शतम्
   शृणुयाम शरद:शतम प्रब्रवाम् शरद: शतम्
   अदीना: स्याम शरद: शतम्, भूयश्च शरद:शतात्। यजुर्वेद 36/24

2. उपधाहि परोहेतु: दु:ख दु:खाश्रयप्रद:।
   त्याग: सर्वोपधानां च सर्वदु:खव्यापोहक:।। (उपधा=भावदोष)
   यस्त्वग्नि कल्यानर्थान् ज्ञो ज्ञात्वा तेभ्यो निवर्तते।
   अनारम्भादसंयोगस्तं दु:खं नोपतिष्ठते।।
   धीधृतिस्मृति विभ्रष्ट: कर्मयत्कुरुतेऽशुभम्।

प्रज्ञापराधं तं विधात्सर्वदोषप्रकोपणम्।।

चरकसंहिता शरीरस्थान 1.94, 96, 101

3. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। गीता 6/17

4. पद्मनन्दिपंचविंशतिकागत श्रावकाचार में देशव्रतोद्योतन-श्लोक 52

5. श्रावकाचार सारोद्धार (भाग 3) श्लोक 103, पृष्ठ 341

6. कुन्दकुन्दश्रावकाचार (भाग 4) 5/5, पृ. 43

7. (क) अमितगतिश्रावकाचार-5/42
(ख) श्रावकाचार सारोद्धार श्लोक 104

8. अथ दोषा च नक्तं च रजनाविति। अमरकोष, 3/6, पृष्ठ 444

9. अमितगति श्रावकाचार 5/41

10. कुन्दकुन्दश्रावकाचार 4/4, 4/7

11. श्रावकाचार सारोद्धार श्लोक 110।

12. अमितगति श्रावकाचार 5/45।

13. (क) श्रावकाचार सारोद्धार, श्लोक 106-107
(ख) अमितगति श्रावकाचार 5/4

14. (क) श्रावकाचार सारोद्धार, श्लोक 105, 113
(ख) पूज्यपाद श्रावकाचार, श्लोक 94
(ग) पुरुषार्थानुशासन, श्लोक 47

15. पुरुषार्थानुशासनगतश्रावकाचार, श्लोक 45

16. (क) वसुनन्दिश्रावकाचार, 315-316
(ख) पुरुषार्थानुशासन, 46
(ग) पूज्यपाद श्रावकाचार, श्लोक 86

17. प्रदोषो रजनीमुखम्-अमरकोष।

18. (क) अमितगतिश्रावकाचार 5/54
    (ख) श्रावकाचार सारोद्धार, श्लोक 116
19. श्रावकाचार सारोद्धार, श्लोक 109
20. (क) अमितगतिश्रावकाचार, 5/51
    (ख) श्रावकाचार सारोद्धार 115, 116
21. (क) अमितश्रावकाचार, 5/50।
    (ख) श्रावकाचार सारोद्धार, 114
22. (क) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, श्लोक 81
    (ख) व्रतोद्यान श्रावकाचार, श्लोक 143
23. भव्यधर्मोपदेश उपासकाध्ययन, श्लोक 89
24. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय-134 एवं 129, यशस्तिलकचम्पू-310, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा-80, रत्नकरण्डश्रावकाचार 142, श्रावकाचारसारोद्धार-111
25. अमितगतिगवकाचार, 5/40, भव्यधर्मोपदेश उपसकाध्ययन, 87
26. पुरुषार्थसिद्धयुपाय-133
27. पुरुषार्थसिद्धयुपाय-130
28. पुरुषार्थसिद्धयुपाय-132
29. (क) अमितगतिश्रावकाचार 5/44
    (ख) श्रावकाचार सारोद्धार-112
30. वसुनन्दिश्रावकाचार-317
31. पूज्यपादश्रावकाचार 87-91
32. अमितगतिश्रावकाचार 5/58-60
33. अमितगतिश्रावकाचार 5/57

34. (क) अमितगति श्रावकाचार 5/65
(ख) श्रावकाचार सारोद्धार, श्लोक 118

35. अमितगतिश्रावकाचार 5/47-61

36. पूज्यपाद श्रावकाचार, श्लोक 88-93

37. पुरुषार्थानुशासन, श्लोक 48।

38. श्रावकाचार सारोद्धार, श्लोक-120-121, अमितगतिश्रावकाचार, 5/62-66

39. श्रावकाचार सारोद्धार, श्लोक 108, अमितगतिश्रावकाचार, 5/49, पुरुषार्थानुशासन, श्लोक 49

40. अमितगतिश्रावकाचार, 5/67

पूर्व रीडर-संस्कृत विभाग
एस.डी. कालेज, मुजफ्फरनगर

●●

जैन संस्कृति सम्पन्न भव्य प्राचीन केन्द्र फतेहपुर सीकरी

- सुरेशचन्द्र बारोलिया

उत्तर प्रदेश भारतीय संस्कृति का आदि स्रोत रहा है। यहीं पर भारतीय संस्कृति और सभ्यता की नींव रखी है। यहाँ पर श्रमण जैन धर्म की स्थापना हुई और अहिंसा का प्रथम उद्घोषणा हुई। मानव सभ्यता की आधार शिला यहीं रखी गयी समाज कल्याण, राज व्यवस्था, विवाह व्यवस्था, धर्म व्यवस्था का आरम्भ यहीं से हुआ, यह लिपि और विधाओं के आविष्कार का केन्द्र बिन्दु रहा है। उत्तर प्रदेश जनपद का आगरा प्रमुख जैन केन्द्र है। आगरा के आस-पास नगरों ग्रामों, कस्बों में जैन मूर्तियाँ हैं। तीर्थक्षेत्रों तथा अतिशय क्षेत्रों के अलावा यहाँ किसी समय जैनियों की अच्छी बस्ती थी। आज उनमें से कुछ तो समय की गति के साथ ही जन शून्य स्थानों के रूप में परिवर्तित हो गये हैं तथा कहीं-कहीं पर उनके स्मारक ही शेष रह गये हैं। वर्तमान में जैन पुरातत्व की बहुत ही वस्तुयें जो खुदाई में प्राप्त हो रही हैं उनके शिला लेख, ताम्रपत्र, प्रतिमाएँ आदि अब भी अवशिष्ट खण्डहरों में उनके पूर्व वैभव का स्मरण करा रही है। आज ये ध्वंशावशेष समाज के विद्वानों का ध्यान उनके पुरातत्व के उद्घाटन व इतिहास के संकल्प की ओर आकृष्ट कर रहे हैं। आज न जाने कितने ऐसे स्थान होंगे जिनके ऐतिहासिक विवरण समय की काली चादर में लिपटे हुये पृथ्वी पर सिमटे पड़े होंगे। न जाने धरती के गर्भ मे कौन-कौन से रहस्य छिपे हुये हैं।

अभी कुछ माह पूर्व आगरा जनपद से 36 किलोमीटर दूरी पर पुरातत्व विभाग द्वारा फतेहपुर सीकरी में वीर छबीले टीले पर खुदाई के दौरान भूगर्भ से अनेकों मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। उत्खनन में जहाँ महत्वपूर्ण कड़ियाँ जुड़ रही हैं वहीं आने वाली पीढ़ी के लिये नये इतिहास का सृजन हो रहा है। उत्खनन से प्राप्त सामग्री के आधार पर अनुमान है कि फतेहपुर सीकरी देश का पहला

हेरिटेज सिटी होगा तथा पर्यटकों का प्रवाह ताजमहल से भी अधिक प्रभावकारी होगा। जिस प्रकार रोम और पोम्मई हेरिटेज सिटी है उसी तरह दुनिया के लोग सीकरी देखने आया करेंगे।

सीकरी का प्राचीन वैभव :

सीकरी क्षेत्र पुरातात्विक सर्वेक्षण के आधार पर ई.पू. 15वीं और 12वीं शताब्दी पूर्व की अपने वैभव की कहानी बता रहा है। यह मत वहाँ से प्राप्त धूसर भॉड, वहाँ उपलब्ध प्राकृतिक मानव गुफाओं में चित्रित है। ईसा की प्रथम शताब्दी, सम्राट कनिष्क के काल में सीकरी थी। कुषाणकाल की ब्राह्मी लिपि का एक अवशेष भी सीकरी के निकट किरावली क्षेत्र से प्राप्त हुआ है तथा गंधार शैली की मूर्तियाँ तथा अबिंका की मूर्ति भी प्राप्त हुई हैं। चौथी सदी की गुप्त काल की मिट्टी की दीवार और मूर्तियाँ भी उत्खनन से प्राप्त हुई हैं। शिला लेखों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ईसा की प्रथम से चौथी शताब्दी में भी फतेहपुर सीकरी एक समृद्धशाली तथा वैभव सम्पन्न नगरी थी। सन् 1871-72 में भी कई क्षेत्रों की खुदाई में प्राचीन प्रतिमाएं मिली थीं। सम्भव है कि उन दिनों आगरा कलात्मक मूर्तियाँ बनाने का केन्द्र रहा हो। आगरा गजेटियर सन् 1884 पृष्ठ 482-83 में उल्लेख करते हुए लिखा है कि सीकरी क्षेत्र बहुत प्राचीन था तथा इसको सन् 815 ई. में चन्द्रराज ने सीकरी को बसाया था। सीकरी पर सिकरवार (शिखरवार) जैन तथा राजपूत राजाओ का प्रभुत्त्व था इस क्षेत्र में हिन्दू व जैन मन्दिर के भग्नावशेष आज भी बताये जाते हैं। राजपूत काल के मन्दिरों के खम्भों व विष्णु के चक्र आदि के अवशेष अब भी उपलब्ध बताये जाते हैं।

10वीं सदी में सीकरी का नाम सैंकरिक्य-जैन आचार्यों की बस्ती थी

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा फतेहपुर सीकरी में विगत कुछ पूर्व खुदाई करवाई गयी थी, उनसे जो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं तथा उन पर लिखा हुआ शिलालेख संस्कृत भाषा में है। 10वीं शताब्दी की संस्कृत भाषा व्याकरण शाब्दिक दृष्टि से कमजोर थी। कई शब्द अपभ्रंश के थे लेकिन इनका प्राचीन भारतीय इतिहास शोध परिषद्, नई दिल्ली के डॉ. विरजानंद तथा डॉ. देवकरण जी ने संयुक्त रूप से अनुवाद किया है। डॉ. देवकरण जी प्राचीन पांडुलिपियो

के विशेषज्ञ माने जाते हैं। वैसी भी पुरातत्त्व विभाग की (एपिग्राफी शाखा) प्राचीन लेख मुद्रा शाखा ने भी इन शिलालेखों का गहन अध्ययन किया है तथा जैन पक्षिणी की चतुर्भुज प्रतिमा पर संस्कृत में अंकित हैं, जिसका अर्थ है ओम विक्रम संवत् 1067 (1010 ईसवी) बैशाख शुक्ला पक्ष नवमी को श्री वज्राम के राजा सीकरी नगर- जो शान्ती विमलाचार्य की बस्ती है में संचाभर और मल्लिक्या वाणी सेठों ने श्री सरस्वती प्रतिमा की स्थापना कराई। साथ में शिल्पकार का नाम आदिल भी अंकित है तथा उसका नाम अन्य शब्दों में बड़ा है-हो सकता है कि आदिल मूर्तिकला में काफी प्रभावशाली रहा हो। इसी प्रकार द्वितीय लेख ऋषभदेव जैन तीर्थकर की प्रतिमा, जो उत्खनन में प्राप्त हुई है उस पर लिखा शिला लेख का अर्थ है विक्रम संवत् 1079 ज्येष्ठ मास शुक्ल पक्ष एकादशी (1022 ईसवी) रविवार के दिन स्वाति नक्षत्र में श्री ऋषभदेव प्रथम जैन तीर्थकर की प्रतिमा की स्थापना, श्री विमलाचार्य की संतान परम श्रद्धेय देवराज और उनकी पत्नी धनपति इन दोनों ने करवाई। तृतीय जैन तीर्थंकर सम्भवनाथ की प्रतिमा के साथ शिलालेख पर लिखा है कि विक्रम संवत 1079 ज्येष्ठ मास शुक्ल पक्ष एकादशी रविवार (1022 ई.) के दिन स्वाति नक्षत्र में श्री सम्भवनाथ तृतीय जैन तीर्थकर की प्रतिमा की स्थापना श्री विमलाचार्य की संतान परम श्रावक देवराज और उनकी पत्नी धनपति इन दोनों ने करवाई। प्रतिमा में लिखे संतान शब्द से अभिप्राय अपने निजी पुत्र अथवा परम्परा से प्राप्त शिष्य दोनों ही सम्भव है। इस प्रकार तीन शिला लेख यह सिद्ध करते हैं कि यहाँ जैन आचार्यो की बस्ती थी तथा वेदी प्रतिष्ठा हुआ करती थी। यहाँ पर खुदाई के दौरान जो जैन सरस्वती की मूर्ति मिली है वह कला की दृष्टि से अद्वितीय है विश्व में इससे सुन्दर सरस्वती की कोई मूर्ति नहीं है। उस भव्य सरस्वती मूर्ति के शीर्ष पर दोनों ओर दिगम्बर जैन तीर्थकरो की मूर्तियाँ धारण किये हुये अंकित है। मूर्ति की केश सज्जा, हार, कानों के कुण्डल आभूषण एवं पैरों की पैजनियों की छवि अति विमुग्धकारी एव सर्वश्रेष्ठ सुन्दरता को सिद्ध करती है। मुकुट मण्डल में भी तीर्थंकर की प्रतिमा विराजित है। ऋषभदेव के प्रतिहारों द्वारा मूर्ति के दोनों ओर चँवर ढोले जा रहे हैं तथा कमर में बंधी करदोनी भी श्रृंगार का अद्वितीय रूप लिये है। इसी प्रकार संभवनाथ की मूर्ति पर दोनों ओर तीर्थंकरों की चौबीसी भव्य रूप में उत्कीर्ण

है। इसमे प्रमाणित होता है कि यह क्षेत्र काफी भव्य था जिस स्थान पर सरस्वती की मूर्ति मिली है वहाँ बहुत भव्य विशाल जैन मन्दिर होगा। ऐसी प्रतिमा विशाल भव्य जिन मन्दिरों में ही विराजमान की जाती है।

यहाँ की गुफाओं में रंगीन शैल चित्र विद्यमान हैं महाभारत में सीकरी का उल्लेख शौक के नाम से मिलता है। शौक का अर्थ जल से घिरा क्षेत्र होता है यहाँ एक बहुत बड़ी झील थी। उत्खनन से प्राप्त सरस्वती की प्रतिमा पर लिखे लेख में सीकरी का नाम सैकरिक्य है। प्रतिमा पर लिखे श्लोक से ज्ञात होता है सीकरी एक भव्य विशाल प्राचीन नगरी थी तथा यहाँ विशाल जैन मन्दिर थे। यहाँ मानव निवास का प्रमाण भी मिलता है। मध्य युगीन शहर सीकरी भारत की साझी संस्कृति का प्रतीक है। खोजबीन ने यह पाया है कि भारत का कोई शहर स्मारकों की दृष्टि से इतना अमीर नहीं है जितना सीकरी है। यह क्षेत्र जैन संस्कृति एवं मन्दिरों का प्रमुख गढ़ है। सीकरी में 92 स्मारको का समूह था। भारतीय इतिहास में सीकरी अपनी अद्वितीय विशेषताओं के लिये प्रसिद्ध था इसलिये यूनेस्को ने विश्व के प्रमुख स्मारकों की श्रेणी मे सीकरी को रखा है।

सीकरी का विनाश एवं पतन :

महान् आत्माओं की स्मृति में राजाओं, धनी व्यापारियों तथा जन सामान्य ने अपनी श्रद्धा व सामर्थ्य के अनुसार सीकरी नगर में तथा आसपास अनेको स्मारक जैन मन्दिर, मठ आदि का 10वीं सदी तक समय-समय पर निर्माण करवाये थे। 11वीं सदी में बर्बर विदेशी आक्रमणों से वे प्राचीन मन्दिर ध्वस्त होकर टीले के रूप में परिवर्तित हो गये। सन् 1126 तथा 1136 में महमूद गजनवी ने आगरा तथा सीकरी पर आक्रमण किया। मन्दिरों को तहस-नहस किया; उनको ढहा दिया गया और मूर्ति के साथ क्रूरता से पेश आया गया। उनको सिर से अलग कर मुख को नष्ट कर दिया गया। सीकरी नगरी को उजाड़ दिया गया। जैन मूर्तियों को टूटी अवस्था में एक गड्ढे में दबाकर दीवार खड़ी कर दी गयी। इसके बाद 13वीं सदी में अलाउद्दीन खिलजी भी सीकरी आया उसने भी मन्दिरों को नष्ट किया। महमूद गजनवी ने तो आगरा सीकरी में कत्लेआम भी किया और उजाड़ कर तुच्छ गांव के रूप में छोड़ गया।

मोहम्मद गौरी तो आगरा व आसपास के स्थानों को लूटकर 1500 सौ ऊंटों पर लूट का माल ले गया था। 6 जुलाई सन् 1505 में आगरा व आसपास एक भयंकर भूकम्प आया था, जिससे अनेकों इमारतें नष्ट हो गयीं तथा आगरे का प्राचीन बादलगढ़ का किला भी नष्ट हो गया। एक उल्लेख के अनुसार सन् 1501 में सिकन्दर लोदी आगरा आया और उसने इसे अपनी राजधानी बनाया। सिकन्दर लोदी का व्यवहार भी हिन्दुओं तथा जैनों के साथ असहिष्णुता का था। बताते हैं कि एक ब्राह्मण ने इतना कहा कि हिन्दू और मुसलमान दोनों का मत सच्चा है इस बात पर उसने उसकी जान ले ली और मन्दिरों को नष्ट कर डाला तथा तीर्थ यात्राओं पर रोक लगा दी। सन् 1526 में मुगल सम्राट बाबर भारत आया 'बाबरनामा' में उल्लेख है कि बाबर को भारत में जिन विरोधियो की शक्ति का भय था उसमें प्रमुख थे उदयपुर नरेश राणा सांगा। उसने मुकाबला करने के लिये सीकरी को ही चुना और 25 फरवरी 1527 को बाबर राणा सांगा का युद्ध खानवा के मैदान में सीकरी में हुआ जिसमें बाबर की विजय हुई। उस समय भी मूर्तियों को नष्ट किया गया। बाबर की आत्मकथा 'बाबरनामा' पुस्तक जो विश्व की 20 प्रसिद्ध पुस्तकों में गिनी जाती है उसमें भी मन्दिरों को तोड़ने, नष्ट करने की जानकारी दी गयी है। उसी समय एक मुसलमान सन्त शेख सलीम चिश्ती भी दिल्ली से आकर सीकरी की गुफाओं में धर्म ध्यान में लीन रहने लगा। 26.12.1530 को बाबर का निधन हो गया। हुमायूँ गद्दी पर बैठा लेकिन उसका ध्यान सीकरी की ओर नहीं गया तथा 30.10.1558 को अकबर सम्राट आगरा आ गया उसने अपना निवास स्थान प्रथम आगरा में बनाया।

सीकरी का उत्थान एवं विकास :

सीकरी के इतिहास में एक नया मोड़ आया। उन्नति एवं विकास के शुभ लक्षण नजर आने लगे। कहा जाता है कि मुगल सम्राट् अकबर की दो संतानें बाल्यकाल में मृत्यु को प्राप्त हो गयी, जिससे उत्तराधिकारी की चिन्ता में सम्राट् अकबर दुखी रहने लगा। उसकी भेंट सीकरी की पहाड़ी गुफा में उस युग के प्रसिद्ध सलीम चिश्ती से (जो साधना में लीन रहता था) हो गयी। उसने अकबर के 3 संतान होने का वचन दिया। आमेर की हिन्दू राजपूत रानी की गर्भावस्था के दिन पूर्ण होने के थे। उसने रानी के शेख सलीम के पास भेज

दिया जहाँ 30 अगस्त 1569 को शहजादे सलीम (जहांगीर) का जन्म सीकरी में हुआ। दूसरा पुत्र मुरादमी 1570 में सीकरी में पैदा हुआ। शेख साहब का आशीर्वाद व कृपा मानकर उसने आगरा को अशुभ जानकर तथा शेख सलीम जहाँ निवास करता था उसे शुभ और मंगलकारी मानकर एक नवीन नगर के निर्माण के रूप में सीकरी का विकास किया और सीकरी को अपनी राजधानी बनाया। सन् 1569 से 1584 तथा 15 वर्ष की अल्पकाल तक राजधानी रही। अकबर के राज्य में राजधानी सीकरी होने के कारण अनेकों महल, भव्य इमारतों का निर्माण कार्य 1957 से शुरू होकर तथा 6-7 वर्ष तक चला। राजधानी सीकरी में 13 सरकारें जिले तथा 203 परगने थे। आगरा का क्षेत्र 1864 वर्ग मील था। अकबर द्वारा बनाये गये भव्य भवन उस समय की अपनी भव्यता को मूक शब्दों में आज भी कहते हैं।

मुगल सम्राट् अकबर पर जैन धर्म का प्रभाव :

जैन संत अपने आचार-विचार एवं चरित्र शुद्धता के कारण विश्व में जाने जाते हैं। समय समय पर अनेकों राजाओं को विभिन्न जैन संतों से प्रतिबोध पाकर अपने जीवन को धन्य ही नहीं किया, बल्कि जनहित में ऐसे कार्य भी किये हैं जो इतिहास के पन्नों में स्वर्ण अक्षरों में अंकित हो गये हैं। मुगल काल में आचार्य हरिविजय सूरी उपाध्याय, संगम सुन्दर, शान्ति चन्द्रजी, कल्याण सागर सूरि आदि अनेकों मुनियों ने मुगल बादशाहों पर अपना प्रभाव डालकर उनका जीवन परिवर्तित कर जैन धर्म की प्रभावना की है। इनका वर्णन जगद्गुरु काव्य नामक ग्रन्थ में मिलता है। एक दिवस अकबर सम्राट् अपने राजमहल की छत पर बैठा था उसने राजमार्ग की ओर देखा कि एक महिला पालकी में बैठकर गाजे-बाजे तथा सैकड़ों श्रद्धालुओं के जय-जयकार के साथ जिन मन्दिर की ओर जा रही है। जानकारी करने पर ज्ञात हुआ कि इस महिला ने 6 महीने का उपवास किया है केवल रात्रि के पूर्व गर्म जल लेती है इसके 5 माह व्यतीत हो गये हैं तथा आज जैन समाज का कोई विशेष पर्व होने के कारण मंदिर में पूजा-अर्चना करने हेतु जा रही है तथा इस महिला का नाम चम्पा बहिन है। सम्राट् को विश्वास नहीं हुआ। यद्यपि उसका तेज मुख मुद्रा को देखकर तपस्या, कठोर साधना के विषय में काफी कुछ सत्यता प्रतीत होती थी। फिर भी; इसकी परीक्षा करनी चाहिये। इस विचार से राजा ने एक

माह तक अपने एकान्त महल के अन्दर रहने की व्यवस्था के साथ आज्ञा दी तथा सुरक्षा तथा गुप्तचरों को भी सावधान कर दिया। चम्पा अहिन को एक माह समय निकालना कोई बड़ी बात नहीं थी। अकबर को उसके पवित्र आचरण, कठिन तपस्या, कठोर साधना की सत्यता मालूम होने पर राजा आश्चर्य चकित रह गया। उसने अनेकों प्रश्न किये, कहा इतनी कठोर साधना क्यों और किसके प्रभाव से करती हो उत्तर था-तपस्या आत्म-कल्याण हेतु की जाती है जैन सन्तों के मंगलकारी उपदेश के प्रभाव से जीवन के कल्याण हेतु साधना, कठोर व्रत धारण करते हैं। अकबर के मन में जैन सन्तों के दर्शन की अभिलाषा जागृत हो गयी है। उस समय अहमदाबाद के पास खम्मात के प्रवास कर रहे हरिसूरिजी को राजा से भेंट करने का आमंत्रण भेजा गया। विचार विमर्श के बाद अकबर से भेंट करने का निर्णय लिया तथा ज्येष्ठ सुदी 13 सम्वत् 1639 सन् 1582 में जैन आचार्य अपने 13 विद्वानों सहित सीकरी पहुँच गये। बादशाह ने विनय आदर पूर्वक रत्न जड़ित सिंहासन पर बैठने का अनुरोध किया। संत ने कहा अहिंसावादियों के लिये वस्त्रों पर बैठना, ग्रहण करना, उनको छूना भी निषेध है। किसी जीव की हत्या तो क्या दुख देना भी नही चाहिए। ऐसा हमारे धर्मशास्त्र कहते हैं तथा आवागमन में भी जीवों की हत्या न हो किसी प्रकार के वाहनों का प्रयोग नहीं करते हैं तथा 4 हाथ आगे देखकर चलते हैं जिससे किसी की हत्या न हो। तथा पाँच महाव्रतों का पालन करते हैं। गृहस्थो को भी श्रावक धर्म का पालन करना पड़ता है। गृहस्थों के लिये जो भूषण हैं वह साधुओं के लिये दूषण है। इस प्रकार अनेकों प्रश्न चर्चा करने पर तथा उनका सटीक उत्तर मिलने पर अकबर के ऊपर काफी प्रभाव पड़ा। अहिंसा से प्रभावित होकर जैन धर्म के पर्वो पर पर्यूषण पर्व, जीव हिंसा बन्द कराने के आदेश दिये। सन् 1582 में उसने पिजड़ों में बंद सभी पक्षियो को छुड़वा दिया तथा सीकरी के पास डाबर के तलाब में मछली न मारने का भी आदेश जारी कर दिया। इनका उल्लेख हरिति जय सरिदास तथा जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संचय में भी मिलता है। जैन संतों का उसके ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा तथा सुरिगों से प्रभावित होकर उसने एक भव्य समारोह का आयोजन करके उनको जगद्गुरु की उपाधि से सम्मानित किया। सन् 1583 मे अकबर के अनुरोध पर जैन सन्तों ने सीकरी में चातुर्मासकर धर्म की प्रभावन

को भी बढ़ाया था।

अकबर ने सम्वत् 1640 में आगरे का प्रसिद्ध चिन्तामणि पार्श्वनाथ के मन्दिर का निर्माण कराकर उसकी वेदी प्रतिष्ठा का भव्य आयोजन किया। सन् 1585 में उसने जजिया कर जो तीर्थयात्रियों पर लगता था बन्द करा दिया तथा जैन तीर्थ सम्मेदशिखर पावापुरी गिरनार शत्रुंजय (पालीताना) केसरिया जी आदि अनेकों तीर्थ जैन समाज को दे दिये गये तथा जीव हत्या न करने के आदेश भी जारी कर दिये। जैन सन्तों के उपदेश से एक मुसलमान शासक जो सवासेर चिड़ियों की जीभ प्रतिदिन खाया करता था। उसने मांसाहार का त्याग कर दिया तथा साल में 6 महीने पशुवध का निषेध करवा दिया तथा हत्या करने पर दण्ड का विधान रखा गया।

सीकरी के स्मारकों पर जैन स्थापत्य का प्रभाव :

अकबर ने वर्ष 1569 से 1584 ई. तक सीकरी को राजधानी बनायी थी। इस स्थान पर बनाये गये भव्य महल विश्व प्रसिद्ध बुलन्द दरवाजा, जोधाबाई का महल, दीवाने खास, पंच महल तथा पहाड़ी टीले पर स्थित खण्डहर, भव्य स्मारक, उस समय की गाथा अपने मूक शब्दों में कहते हैं। सन् 1573 मे गुजरात प्रान्त के विजय के उपलक्ष्य में इस स्थान का नाम फतेहपुर सीकरी रखा गया तथा सीकरी की प्राचीनता का अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहे तथा इसकी पहचान के लिये पुराना नाम भी साथ में रखा। यह स्थान अब फतेपुर सीकरी के नाम से जाना जाता है। अकबर ने हिन्दू तथा जैन मन्दिरों का निर्माण किया तथा अपने महलों में भी पूरा का पूरा खंड जैन स्थापत्य के अनुरूप बनवाया गया। दीवाने आम को देखकर ऐसा लगता है कि पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात के जैन मन्दिरों तथा हवेलियों में प्रयुक्त होने वाले जैन स्थापत्य के खंड को फतेहपुर सीकरी में स्थापित कर दिया गया है। पंच महल के शीर्ष भाग में उत्तीर्ण विभिन्न अलंकरण जैन प्रतीकों से ही ग्रहण किये गये हैं। उदाहरण स्वरूप वृक्ष, घट, पल्लव, नंद्यावर्त आदि हैं। जोधाबाई के महल के गवाक्षों पर भी जैन स्थापत्य तथा तोरणों का प्रयोग भी सजावट के लिये किया गया है। सम्पूर्ण महल की सजावट राजस्थान शैली की तथा जैन प्रतीकों के प्रयोग यहां अलंकरण के रूप में किया है। जैन चिन्ह व स्वास्तिक, कलश,

नंद्यावर्त यहां तक की तीर्थंकरों के लांक्षन सम्बन्धित तथा यक्ष यक्षिणी केवाहन और आयुध आदि स्मारकों में साज-सज्जा के लिये स्वीकार किये गये हैं। निश्चय ही इस प्रकार की सज्जा अलंकरण मुस्लिम वास्तुकला के नियम के अनुकूल नहीं है जहां किसी प्राणी के रूप में प्रस्तुति करना वर्जित है। दीवाने-आम की बनावट शुद्ध भारतीय शैली की है।

यहाँ के समारकों में अलंकारिता के चित्रण में बहुत योगदान जैन आचार्यो के प्रभाव से उत्पन्न सहिष्णुता का हाथ होने के साथ-साथ अपनी अवधारणा के योगदान में इन स्मारकों की बनावट तथा सजावट पर जैन कला की एक अमिट छाप है।

विदेशी यात्री तथा इतिहासकारों का कथन :

सीकरी के स्मारकों, महलों, चबूतरों आदि के बारे में कुछ प्रमुख विदेशियों ने सीकरी के बारे में अपने विचार निम्न प्रकार से प्रस्तुत किये हैं--

श्री ई.वी. हैवले का कहना है कि सीकरी में मुख्य ज्योतिषी का आसन निश्चय जैन स्थापत्य का एक विशुद्ध प्रतीक है। यह चौकोर चबूतरा जिसके चारों ओर कोनों पर स्तम्भ बने हैं जिनके शीर्ष पर एक गुम्बद टिका हुआ है। गुम्बद के वजन को समान रूप में वितरित करने के लिये प्रत्येक स्तम्भ के मध्य भाग से मकर मुख से निकलती कमल लता ऊपर जाकर दोनों ओर से धारण कर केन्द्र से मिलकर आधार बनाती है। वन्दनवार युक्त तोरण का रूप धारण करती है इसलिये इसे मकर तोरण नाम दिया है जो कि जैन मन्दिरों में बहुलता से मिलता है। इसी प्रकार जोधाबाई के महल की बनावट-सजावट राजस्थानी जैन शैली की है इसके प्रत्येक द्वार से लेकर गवाक्ष वाले स्तम्भ जालियां छतरियां आदि तथा जंजीरों में लटकते हुए घन्टे का चित्रण जैन शैली की ओर आकर्षित करता है। यहां सोने चांदी के सिक्के ढाले जाते थे।

अंग्रेजयात्री शल्फ फिच :

यह यात्री 1585 में भारत आया था। उसने कहा है कि आगरा और फतेहपुर सीकरी दोनों बड़े शहर हैं उनमें से हरेक लन्दन (इंग्लैंड) से बड़ा है तथा निवासी सकुशल हैं।

पुर्तगाली जेसुईट पादरी पिन्हेरी :

यह पादरी 1595 में आया, उसने लिखा है कि अकबर जैन धर्मनुयायी हो गया था। अहिंसा उसके जीवन का मनन-चिन्तन बन गया था। मद्य, मांस, जुआ के लिये निषेध कर दिया गया था फरमान जारी किये उसका जीवन शाकाहारी, जीव-दया, सामाजिक नैतिकता आदि गुणों से भरपूर था।

आधुनिक इतिहासकार डॉ. स्मिथ :

अकबर की जैन धर्म पर बड़ी श्रद्धा थी। उसने उपदेशों से प्रभावित होकर अपने शासनकाल में जहां जैन मन्दिर तोड़े गये थे पुन: मन्दिर स्थापित करवा दिये। मन्दिर तोड़कर जो मस्जिद बनी उनको तुड़वाकर जैन मन्दिर की स्थापना करवायी। सहारनपुर का प्रसिद्ध सिधवान का जैन मन्दिर के विषय में ऐसी ही कथा प्रचलित है।

धार्मिक अनुष्ठान में अकबर का योगदान :

बादशाह अपने जीवन में जैन धर्म की शिक्षाओं को उतारने का प्रयास निरन्तर करता रहता था। धार्मिक अनुष्ठान, वेदी प्रतिष्ठा विधान आदि क्रियाओ का राजा के जीवन पर भारी प्रभाव पड़ा था। धार्मिक क्रियाओं के बारे में एक घटना प्रचलित है कि अकबर के बेटे सलीम के घर कन्या का जन्म हुआ तो ज्योतिषियों ने इसे बहुत ही अनिष्ट कारक बताया और ग्रह शान्ति हेतु उसने एक विशाल जैन धार्मिक अनुष्ठान- शान्तिनाथ विधान का भव्य आयोजन किया। प्रतिष्ठाचार्य के रूप में बीकानेर के कर्मचन्द वच्छावत को जैन धर्मानुसार विधि-विधान एवं धार्मिक क्रिया हेतु सम्मान सहित आमंत्रण दिया और शान्ति विधान चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के दिन भगवान सुपार्श्वनाथ का अभिषेक स्वर्ण रजत कलशों से बड़े समारोह पूर्वक सम्पन्न किया। इस धार्मिक अनुष्ठान में सम्राट् अपने पुत्रों और दरबारियों सहित सम्मिलित हुआ तथा अभिषेक का गन्धोदक को विनय पूर्वक मस्तक पर लगाया तथा बेगमों के लिए उनके महल में गन्दोधक लगाने हेतु भिजवाया। उसने मन्दिर को 10 हजार स्वर्ण मुद्रायें भेंट की। अकबर के शासन में 1579 में हुई बिम्ब-प्रतिष्ठा सर्व प्रथम प्रतिष्ठा थी। सम्राट् ने आष्टान्हिका के दिनों में पशुवध बंद कर दिया। साल के 365 दिन में 175 दिन पशुवध बन्द करवा दिया था। जैन सिद्धान्तों के प्रति अनुराग तथा

जैन धर्म का पालन करने वाला वह सर्वश्रेष्ठ मुगल सम्राट् माना जाता था। इसके समय में हिन्दी ग्रन्थ लेखन तथा जैन साहित्य लेखन के कार्य को भी अधिक महत्व दिया जाता था श्री लालदास ने 1586 में इतिहास भाषा ग्रन्थ लिखा तथा कविवर बनारसीदास ने भी अनेकों ग्रन्थ लिखे। उस समय जैन पंच पुरुषों में आध्यात्म ज्ञानी वासू शाह ओसवाल प्रमुख थे। अकबर की पुस्तकालय में 24000 हजार पुस्तकें थीं। अनेकों प्राचीन पुस्तकों तथा संस्कृति की किताबों का तथा उस समय प्रचलित लोकप्रिय साहित्य का अरबी फारसी भाषा में अनुवाद कराया था।

इस प्रकार फतेहपुर सीकरी में किये गये पुरातात्त्विक उत्खनन एवं खोजों से यह सिद्ध होता है कि मानव का विकास प्रागैतिहासिक पाषाण युग में होता आया है और अजैन पौराणिक व अन्य साहित्यिक साक्ष्यों तथा मौखिक अनुश्रुतियों ऐतिहासिक पुरावशेषों से बहुत कुछ प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। वर्तमान में मिली हुई जैन पुरातत्त्व की बहुत-सी वस्तुयें तथा शिलालेख प्रतिमायें आदि अवशिष्ट खण्डहरों में उसके पुरातत्त्व के उद्घाटन व इतिहास के संकलन की ओर आकृष्ट कर रहे हैं।

आशा है समाज के श्रीमन्तों एवं पुरातत्त्व के द्वारा काल तथा अवशिष्ट ध्वंसावशेषों की खोज करने उनके इतिहास व अपनी संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने की ओर अभिमुख होंगे।

सन्दर्भ

1. आगरानामा पेज-9, 18, 45, 50, 54
2. ऋषभ सौरभ-1998, 1992
3. भारत का इतिहास पेज 414
4. अर्धकथानक पेज 99
5. मुगल सम्राटों की धार्मिक नीति पर जैन संतों का प्रभाव-डॉ. नीना जैन
6. प्रमुख अखबार अमर उजाला 3 फरवरी तथा 30 दिसम्बर 2000

7. पंचायत राज 23 अक्टूबर

8. जैन गजट 2 मार्च 2000

9. जैन विचार सरिता 9 अक्टूबर

10. संस्कृति के चार अध्याय, दिनकर पेज 330

11. शहनशाह जहांगीर का नाकाबिले फरामोश।

वी-677, कमलानगर, आगरा

पण्डितप्रवर आशाधर के सागारधर्मामृत की प्रमुख विशेषतायें

- डॉ. रमेश चन्द जैन

पण्डितप्रवर आशाधर तेरहवीं शताब्दी के जैनागम में निष्णात सुप्रसिद्ध विद्वान् थे। उनका सागारधर्मामृत उनके वैदुष्य का परिचायक तो है ही, साथ ही उनके विस्तृत स्वाध्याय और निपुणमति को द्योतित करता है। उन्होंने अपने समय तक लिखे गए सभी श्रावकाचार परक ग्रन्थों का अध्ययन किया था। वे ब्राह्मण साहित्य के भी गवेषी विद्वान् थे, तत्कालीन समाज की आवश्यकता का भी उन्हें ध्यान था। अत: उनका सागारधर्मामृत एक ऐसी रचना बन गई, जिसका अध्ययन करने पर पूर्ववर्ती श्रावकाचारों का अध्ययन अपने आप हो जाता है। इसके अतिरिक्त उनके कथनों की अपनी विशेषतायें भी हैं, जिन पर प्रकाश डाला जाता है-

भद्र का लक्षण

पण्डित आशाधर जी के समय तक ज्ञान का ह्रास हो चुका था। सच्चे उपदेश देने वाले दुर्लभ थे। अपनी पीड़ा को वे इन शब्दों में व्यक्त करते है -

कलिप्रावृषि मिथ्यादिङ्मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह।
खद्योतवत्सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित् क्वचित्॥ सा.ध. 1/7

बड़े दुख: की बात है, इस भरतक्षेत्र में पंचम काल रूपी वर्षाकाल में सदुपदेश रूपी दिशाओं के मिथ्या उपदेश रूपी बादलों से व्याप्त हो जाने पर सदुपदेश देने वाले गुरु जुगनुओं के समान कहीं-कहीं पर दीखते हैं। अर्थात् सब जगह नहीं मिलते हैं।

इस पंचमकाल में भरतक्षेत्र में भद्रपरिणामी मिथ्यादृष्टि को भी अच्छा मानते अर्थात् उपदेश देने योग्य मानते हैं, सम्यग्दृष्टियों के मिलने पर तो कहना

ही क्या; क्योंकि सुवर्ण के नहीं प्राप्त होने पर सुवर्ण पाषाण की प्राप्ति के लिए कौन पुरुष इच्छा नहीं करेगा? अपितु इच्छा करेगा ही[1]।

कुधर्म में स्थित होने पर भी मिथ्यात्व कर्म की मन्दता से समीचीन धर्म से द्वेष नहीं करने वाला भद्र कहा जाता है। वह भद्र द्रव्यनिक्षेप की अपेक्षा अर्थात् भविष्यकाल में सम्यक्त्व गुण की प्राप्ति के योग्य होने से उपदेश देने योग्य है, परन्तु भविष्य में सम्यक्त्व गुण की प्राप्ति के योग्य नहीं होने से अभद्र उपदेश देने के योग्य नहीं है[2]।

जिस प्रकार छिद्र करने वाली वज्र की सूची से छेद को प्राप्त कर कान्तिहीन मणि डोरे की सहायता से कान्तियुक्त मणियों में प्रवेश कर जाती है तो कान्तिहीन होते हुए भी कान्तिमान् मणियों की संगति से कान्तिमान मणि के समान मालूम पड़ती है। उसी प्रकार सद्गुरु के वचनों के द्वारा परमागम के जानने के उपाय स्वरूप सुश्रुषादि गुणों को प्राप्त होने वाला भद्र मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि अंतरंग में मिथ्यात्व कर्म के उदय के कारण यथार्थ श्रद्धान से हीन है तो भी कान्तिमान् मणिरूपी सम्यग्दृष्टियों के मध्य में सांव्यवहारिक जीवों को सम्यग्दृष्टि के समान प्रतिभासित होता है[3]।

गृहस्थ धर्म का धारक

सागार धर्मामृत में गृहस्थ धर्म को धारण करने वाले के जो लक्षण निध रित किए गए हैं, उनमें पहला लक्षण है-न्यायोपात्तधन-अर्थात् उसे न्याय से धनोपार्जन करने वाला होना चाहिए। आज के श्रावक प्राय: इस लक्षण को भूलकर येन केन प्रकारेण धनोपार्जन कर अपने को सुखी मानना चाहते हैं, किन्तु अन्यायोपार्जित धन से कोई व्यक्ति सुखी नहीं हो सकता।

सद्गृहस्थ के अन्तिम लक्षण में उसे अधमी[4]-पाप से डरने वाला कहा गया है। आज लोग पाप से भय नहीं मानते हैं। अनेक ऐसे हैं, जो पाप को पाप ही नहीं मानते हैं। ऐसे लोगों के लिए यह लक्षण बहुत उपयोगी है। पाप को पाप नहीं मानेंगे तो भविष्यत् काल में पाप के डण्डे खाने पड़ेंगे।

पक्ष, चर्या और साधन के स्वरूप

पण्डितप्रवर आशाधरजी ने पक्ष, चर्या और साधन का जो स्वरूप निर्धारित

किया है, वह उनका अपना मौलिक चिन्तन है, तथापि जैनागम के साथ उसकी किसी प्रकार की विसंगति नहीं है। धर्मादि के लिए मैं संकल्पपूर्वक त्रस प्राणियों का घात नहीं करूंगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके मैत्री, प्रमोद आदि भावनाओं से वृद्धि को प्राप्त हो सम्पूर्ण हिंसा का त्याग करना पक्ष कहलाता है। अनन्तर कृषि आदि से उत्पन्न हुए दोषों को विधिपूर्वक दूर कर अपने पोष्य धर्म तथा धन को अपने पुत्र पर रखकर घर को छोड़ने वाले के चर्या होती है और चर्यादि में लगे हुए दोषों को प्रायश्चित्त के द्वारा दूर करके मरण समय में आहार, मन, वचन, काय सम्बन्धी व्यापार और शरीर से ममत्व के त्याग से उत्पन्न होने वाले निर्मल ध्यान से आत्मा के राग-द्वेष को दूर करना साधन होता है[5]।

श्रावक के तीन भेद

पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक के भेद से श्रावकों का तीन भागों में विभाजन आशाधरजी की मौलिक विशेषता है। श्रावक धर्म को ग्रहण करने वाला पाक्षिक है तथा उसी श्रावक धर्म में जिसकी निष्ठा है, वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है और आत्मध्यान में लीन होकर समाधिमरण करने वाला साधक कहलाता है[6]।

अष्टमूल गुण

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में पञ्च अणुव्रतों को धारण करने के साथ-साथ मद्य, मांस, मधु के त्याग को अष्टमूल गुण कहा है[7]। आशाधरजी का कहना है कि जिनेन्द्र भगवान का श्रद्धालु श्रावक हिंसा को छोड़ने के लिए मद्य, मांस और मधु को तथा पांच उदम्बर फलों को छोड़े[8]। कोई आचार्य स्थूल हिंसादि का त्याग रूप पांच अणुव्रत और मद्य, मांस, मधु के त्याग को अष्टमूल गुण कहते हैं अथवा इन्हीं मूल गुणों में मधु के स्थान में जुआ खेलने का त्याग करना मूलगुण कहा है[9]।

मद्य, मांस, मधु का त्याग, रात्रि भोजन का त्याग और पञ्चेदुम्बर फलों का त्याग ये पांच और त्रैकालिक देववन्दना, जीवदया और पानी छानकर पीना ये कहीं-कहीं अष्ट मूलगुण माने गये हैं[10]।

इस प्रकार आशाधरजी ने अपने समय तक प्रचलित सभी मतों का अष्टमूल गुण के सन्दर्भ में उल्लेख कर सबका समाहार किया है। इन अष्टमूल गुणों का पालन करने वाला व्यक्ति ही जिनधर्म सुनने के योग्य[11] होता है। इन गुणों का पालन जिन परम्परानुसार करने वाले तथा मिथ्यात्वकुल में उत्पन्न हो करके भी जो इन गुणों के द्वारा अपनी आत्मा को पवित्र करते हें, वे सब समान ही होते हैं, उनमें कोई अनतर नहीं होता है[12]।

मांस और अन्न दोनों प्राणी के अंग होने पर भी मांस त्याज्य क्यों है?

कुछ लोगों का कहना है कि जिस प्रकार मांस प्राणी का अंग है, उसी प्रकार अन्न भी प्राणी का अंग है, अत: दोनों के खाने में दोष है। ऐसे व्यक्तियों के प्रति आशाधरजी ने एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है-

प्राण्यङ्गत्वे समेऽप्यननं भोज्यं मांसं न धार्मिकौ।
भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैजीयैवनाम्बिका॥ सा.ध. 2/10

प्राणी के अंग की अपेक्षा मांस और अन्न में समानता होते हुए भी धर्मात्मा के द्वारा अन्न खाने योग्य है, किन्तु मांस खाने योग्य नहीं है, क्योंकि स्त्रीत्व रूप सामान्य धर्म की अपेक्षा स्त्री और माता में समानता होने पर भी पुरुषों के द्वारा स्त्री भोग्य है, माता भोग्य नहीं है।

शूद्र भी श्रावकधर्म धारण करने का अधिकारी है

उपकरण, आचार और शरीर की पवित्रता से युक्त शूद्र भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान जिनधर्म सुनने का अधिकारी है, क्योंकि जाति से हीन भी आत्मा कालादि लब्धि के आने पर श्रावक धर्म की आराधना करने वाला होता है[13]।

गृहस्थ को चिकित्साशाला, अन्न तथा जल का वितरण करने का स्थान तथा वाटिकादि बनवाने का विधान

पाक्षिक श्रावक चिकित्साशाला के समान दया के विषयभूत दु:खी प्राणियों का उपकार करने की इच्छा से अन्न और जल के वितरण करने के स्थान को भी बनवाने तथा जिनेन्द्र भगवान की पूजा के लिए बगीचा आदि का बनवाना भी दोषदायक नहीं है[14]।

जिनदेव और जिनवाणी में कोई अन्तर नहीं है

जो भक्तिपूर्वक जिनवाणी की पूजा करते हैं वे मनुष्य वास्तव में जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करते हैं; क्योंकि (गणधर देव ने) जिनवाणी और जिनेन्द्रदेव में कुछ भी अन्तर नहीं कहा है[15]।

जैनों के चार भेद

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव की अपेक्षा जैन चार प्रकार के होते हैं। नाम से और स्थापना से भी जैन इतरों की अपेक्षा उत्कृष्ट पात्र के समान आचरण करते हैं। द्रव्य से वह जैन पुण्यवान् पुरुषों को ही प्राप्त होता है। परन्तु भाव से जैन तो महाभाग्यवान् पुरुषों के द्वारा ही प्राप्य है[16]।

कन्यादान किसे करना चाहिए?

गृहस्थ अपने समान धर्म वाले गृहस्थाचार्य के लिए अथवा उसके अभाव में मध्यम गृहस्थ के लिए कन्या, भूमि, सुवर्ण, हाथी, घोड़ा, रथ, रत्न और मकानादि को दें[17]। गर्भादानादि क्रियाओं के, तत्सम्बन्धी मन्त्रों के तथा व्रत, नियमादिकों के नष्ट नहीं होने की आकांक्षा से गृहस्थ को साधर्मी भाईयों के लिए यथायोग्य कन्यादिक पदार्थो को देना चाहिए[18]। उत्तम कन्या को देने वाले साधर्मी गृहस्थ ने साधर्मी गृहस्थ के लिए त्रिवर्ग सहित गृह दिया है; क्योंकि विद्वान् लोग गृहिणी को ही घर कहते हैं, किन्तु दीवाल और बांसों के समूह को घर नहीं कहते हैं[19]।

गृहस्थ सुकलत्र के साथ विवाह करें

धर्मसन्तति को, संक्लेशरहित रति को, वृत्त कुल की उन्नति को और देवादि की पूजा को चाहने वाला श्रावक यत्नपूर्वक प्रशंसनीय उच्चकुल की कन्या को धारण करे अर्थात् उसके साथ विवाह करे[20]। योग्य स्त्री के बिना पात्र में पृथ्वी सोना आदि का दान देना व्यर्थ है। जड़ में कीड़ों के द्वारा खाए हुए वृक्ष में जल के सींचने से क्या उपकार है अर्थात् कुछ नहीं[21]।

वर्तमान युग के मुनियों में पूर्वकाल के मुनियों की स्थापना

सद्गृहस्थ प्रतिमाओं में स्थापित किए गए अर्हन्तों की तरह वर्तमान काल के मुनियों में पूर्वकाल के मुनियों को नामादिक विधि को द्वारा स्थापित करके

भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करे। क्योंकि अत्यन्त क्षोदक्षेम करने वालों के कहां से पुण्य हो सकता है[22]।

ज्ञानी और तपस्वी दोनों की पूजा करें

तप का कारण होने से ज्ञान पूज्य है। ज्ञान के अतिशय में कारण होने से तप पूजनीय है। मोक्ष का कारण होने से दोनों ही पूज्य हैं। गुणानुसार ज्ञानी और तपस्वी भी पूजनीय है[23]।

मुनियों को पैदा करने का यत्न करें

सद्गृहस्थ पुत्र के समान जगत् के बन्धु जिनधर्म की सत्प्रवृत्ति चलाने के लिए मुनियों को पैदा करने का प्रयत्न करें तथा जो वर्तमान में मुनि हैं इनका श्रुतज्ञानादिक गुणों के द्वारा उत्कर्ष बढ़ाने का प्रयत्न करें[24]।

जब तक विषय सेवन में नहीं आए तब तक के लिए उसका त्याग करें

जब तक विषय सेवन करने में नहीं आते हैं, तब तक उन विषयों का अप्रवृत्ति रूप से नियम करें अर्थात् जब तक मैं इन विषयों में प्रवृत्ति नहीं करूंगा तब तक मुझे इनका त्याग है, ऐसा नियम करें। यदि कर्मवश व्रतसहित मर गया तो परलोक में सुखी होता है[25]।

भलीभांति सोच विचार कर नियम लेना चाहिए

देश, कामादिक को देखकर व्रत लेना चाहिए। ग्रहण किए हुए व्रतों का प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिए। मदावेश से अथवा प्रमाद से व्रतभंग होने पर शीघ्र ही प्रायश्चित्त लेकर पुनः व्रत ग्रहण करना चाहिए[26]।

हिंसक सुखी अथवा दुःखी प्राणी का घात न करे

कोई अज्ञानी जन कहते हैं कि एक हिंसक सर्पादि का घात करने से बहुत से जीवों की रक्षा होती है, यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि जो हिंसक जीव को मारता है, वह भी हिंसक है, उसको भी मारने वाला हिंसक है, इस प्रकार अतिप्रसंग दोष प्राप्त होता है।

कोई अज्ञजन कहते हैं कि सुखी को मारना चाहिए; क्योंकि सुखी मरकर परभव में भी सुखी होता है। ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि सुखी को मारने

से वर्तमान में तो प्रत्यक्ष सुख का नाश होता है अथवा दुर्ध्याति से मरकर दुर्गति में भी जा सकता है। अतः सुखी को नहीं मारना चाहिए।

कोई कहते हैं कि दुःखी जीवों का मार देना चाहिए, जिससे वह दुःख से मुक्त हो जायेगा; ऐसा विचार कर दुःखी जीवों को मारना भी ठीक नहीं है। क्योंकि तिर्यञ्च मानुष सम्बन्धी दुःख तो अल्प हैं। उन स्वल्प दुःख का नाश करने के विचार से दुःखी जीव का घात किया और वह मरकर नरक में गया तो महादुःखी होगा, अतः दुःखी को भी नहीं मारना चाहिए। पं. आशाधरजी ने कहा है-

हिंस्रदुःखिसुखि प्राणिघातं कुर्यान्न जातुचित्।
अतिप्रसङ्गश्वभ्रार्ति सुखोच्छेदसमीक्षणात्।। सा.ध.83

अतिप्रसंग, नरक सम्बन्धी दुःख तथा सुख का उच्छेद देखा जाता है, इसलिए कल्याणेच्छुक मानव कभी भी हिंसक, दुःखी तथा सुखी किसी भी प्राणी का घात न करे।

देशसंयमी के तीन भेद

देशसंयमी तीन प्रकार का होता है-प्रारब्ध, घटमान और निष्पन्न[27]। प्रारब्ध का अर्थ उपक्रान्त है अर्थात् शुरू किया है, जिसने ऐसा होता है। घटमान का अर्थ है-ग्रहण किए हुए व्रतों का निर्वाह करने वाला और निष्पन्न का अर्थ पूर्णता को प्राप्त। सारांश यह कि पाक्षिक श्रावक व्रतों का अभ्यास करता है, इसलिए प्रारब्ध देश संयमी है। नैष्ठिक प्रतिमाओं के व्रतों का क्रम से पालन करता है अतः घटमान है और साधक आत्मलीन होता है अतः निष्पन्न देश संयमी है।

धर्म के विषय में धर्मपत्नी को सबसे अधिक व्युत्पन्न करना चाहिए

दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक उत्कृष्ट प्रेम को करता हुआ अपनी धर्मपत्नी को धर्म में अपने कुटुम्ब की अपेक्षा अतिशय रूप से व्युत्पन्न करे; क्योंकि मूर्ख अथवा विरुद्ध वह स्त्री धर्म से पुरुष को परिवार के लोगों की अपेक्षा अधि क भ्रष्ट कर देती है[28]।

स्त्री की उपेक्षा नहीं करना चाहिए

स्त्रियों को पति की उपेक्षा ही उत्कृष्ट वैर का कारण होता है, इसलिए इस लोक और परलोक में सुख को चाहने वाला पुरुष कभी भी स्त्री को उपेक्षा की दृष्टि से न देखें।

स्त्रियां पति के अनुकूल आचरण करें

कुलीन स्त्रियों को हमेशा पति के चित्त के अनुकूल ही आचरण करना चाहिए; क्योंकि पतिव्रता स्त्रियां ही धर्म, लक्ष्मी, सुख और कीर्ति का एक स्थान है[30]।

नैष्ठिक श्रावक गो आदि जानवरों से जीविका छोड़ें

नैष्ठिक श्रावक गो, बैल आदि जानवरों द्वारा अपनी आजीविका छोड़ें। यदि ऐसा करने में असमर्थ हो तो उन्हें बन्धन, ताड़न आदि के बिना ग्रहण करें। यदि ऐसा करने में असमर्थ हो तो निर्दयतापूर्वक उस बन्धनादिक को न करें।

मुनियों को दान देने के प्रभाव से गृहस्थ पंचसूलजन्य पाप से मुक्त हो जाता है

पीसना, कूटना, चौकाचूली करना, पानी रखने के स्थान की सफाई और घर, द्वार को बुहारना ये गृहस्थों की पञ्चसूत्र क्रियायें हैं। इनसे गृहस्थ जो पाप संचय करता है, वह मुनियों को विधिपूर्वक दान देने से अवश्य धो डालता है अर्थात् उसके पाप नष्ट हो जाते है[32]।

श्रावक की दिनचर्या

पण्डितप्रवर आशाधरजी ने श्रावक की प्रतिदिन की क्या चर्या होनी चाहिए, इसका सुन्दर निरूपण सागार धर्मामृत के छठे अध्याय में किया है। यह वर्णन अन्य श्रावकाचारों में विरल है। प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में उठकर पहिले नमस्कार मन्त्र पढ़ना चाहिए, तदन्तर मैं कौन हूं, मेरा धर्म क्या है और क्या व्रत है, इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए। अनादि काल से भयंकर संसार में भ्रमण करते हुए मैंने अर्हन्त भगवान् के द्वारा कहे हुए इस श्रावक धर्म को कष्ट से प्राप्त किया है। इसलिये इस धर्म में प्रमादरहित प्रवृत्ति करना चाहिए। इस प्रकार प्रतिज्ञा करके शय्या से उठकर स्नानादि से पवित्र होकर एकाग्र मन से अरहंत

भगवान् की जल गंधादि अष्ट प्रकार की पूजा करके देव-वन्दना करे। अवश्य करने योग्य कार्यों की निवृत्ति हो जाने के बाद शान्तिभक्ति बोलकर अपनी शक्ति के अनुसार भोगोपभोग सामग्री का नियम करके भगवान् पुन: दर्शन मिले, समाधिमरण हो ऐसी प्रार्थना करके जाने के लिए प्रभु को नमस्कार करे। समता परिणाम रूपी अमृत के द्वारा विशुद्ध हुए अन्तरात्मा में विराजमान है परमात्मा की मूर्ति जिसके ऐसा श्रावक ऐश्वर्य और दरिद्रपना पूर्वोपार्जित कर्मानुसार होते हैं ऐसा विचार करता हुआ जिनालय जावे।

अपनी शक्ति के अनुसार भगवान् की पूजा सामग्री को लेकर चार हाथ जमीन देखकर जाता हुआ देशव्रती श्रावक मुनि के समान आचरण करता है। जिनेन्द्र भगवान् के मन्दिर के मस्तक पर लगी ध्वजा के देखने से उत्पन्न हुआ आनन्द बहिरात्मा प्राणियों की मोहनिद्रा को दूर करने वाले श्रावक के पाप को नाश करने वाला होता है। नाना प्रकार के तथा आश्चर्य को पैदा करने वाले वादित्र तथा स्वाध्यायादिक शब्द से माला, धूपपूर्ण आदि गन्ध से तथा द्वारतोरण और शिखर पर बने हुए चित्रों द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुआ है, धर्माचरण सम्बन्धी उत्साह जिसको, ऐसा श्रावक नि:सही इस शब्द का उच्चारण करता हुआ उस मन्दिर में प्रवेश करे। क्षालित किया है पैर जिसने, आनन्द से व्याप्त है सर्वांग जिसका, ऐसा श्रावक नि:सही इस वाक्य का उच्चारण करता हुआ जिनभवन के मध्य प्रदेश में प्रवेश करके जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार कर पुण्य के आस्रव को करने वाली स्तुतियों को पढ़ता हुआ तीन बार प्रदक्षिणा करे। यही आगम में प्रसिद्ध समवसरण है। यह प्रतिमार्पित जिनेन्द्र भगवान् ही साक्षात् जिनराज हैं, यह आराधक भव्य वे ही आगम प्रसिद्ध सभसद हैं, इस प्रकार चिन्तन करता हुआ श्रावक उस चैत्यालय में प्रदक्षिणा करते समय बार-बार धार्मिक पुरुषों की प्रशंसा करे। इसके बाद ईर्यापथ शुद्धि करके जिनेन्द्र भगवान् की, शास्त्र की और आचार्य की पूजा करके आचार्य के सामने गृह चैत्यालय में ग्रहण किए नियम को प्रकाशित करे। इसके बाद यह श्रावक यथायोग्य सम्पूर्ण जिनभगवान की आराधना करने वाले भव्य जीवों को प्रसन्न करे तथा अरहन्त भगवान् के वचनों को व्याख्यान करने वालों को तथा पढ़ने वालों को बार-बार प्रोत्साहित करे। इसके बाद वह श्रावक विधिपूर्वक स्वाध्याय करे और विपत्रि से आक्रान्त दीन पुरुषों को विपत्ति से छुड़ावे; क्योंकि परिपक्व ज्ञान

और दया वाले पुरुषों के ही सम्पूर्ण गुण सिद्धि देने वाले होते हैं। जिनगृह के मध्य हंसी, श्रृंगारादि चेष्टा को, चित्त को कलुषित करने वाली कथाओं को, कलह को, निद्रा को, थूकने को तथा चार प्रकार के आहार को छोड़ें। पूजादि क्रियाओं के अनन्तर हिताहित विचारक श्रावक द्रव्यादि के उपार्जन योग्य दुकानादि में जाकर अर्थोपार्जन में नियुक्त पुरुषों की देखभाल करे अथवा ध र्म के अविरुद्ध स्वत: व्यवसाय करे।

यह श्रावक पुरुषार्थ के निष्फल, अल्पफल तथा विपरीत फल वाला हो जाने पर भी न विषाद करे तथा लाभ हो जाने पर हर्षित भी न हो; क्योंकि सब भाग्य की लीला है। मेरे लिए वह मुनि के समान वृत्ति कब होगी, इस प्रकार भावना करता हुआ जैसा भी व्यापार में लाभ हुआ, उससे सन्तुष्ट होता हुआ शरीर की स्थिति के लिए उठे। श्रावक को अपने ग्रहण किए हुए सम्यक्त्व तथा व्रतों का घात न करते हुए मूल्य देकर लाए हुए जल, दूध, दही, धान्य, लकड़ी, शाक, फूल, कपड़ा आदि के द्वारा अल्प पाप हो, ऐसी स्वास्थ्यानुवृत्ति करनी चाहिए। निर्वाह के प्रयोजन से साधर्मी भाईयों के भी घर में तथा विवाहादिक में भी भोजन करने वाला यह व्रती श्रावक रात्रि में बनाए हुए भोजन को छोड़े और हीन पुरुषों के साथ व्यवहार न करे।

वह व्रती श्रावक उद्यान में भोजन करना, प्राणियों को परस्पर लड़ाना, फूलो को तोड़ना, जलक्रीड़ा, झूले में झूलना आदि क्रिया को छोड़ दे तथा इनके समान हिंसा की कारणभूत दूसरी क्रियाओं को भी छोड़ दे। मध्याह्न काल में दोषानुसार किया है स्नान जिसने ऐसा और धुले हुए दो वस्त्र को धारण करने वाला वह श्रावक पापों का नाश करने के लिए आकुलता रहित होता हुआ देवाधिदेव की आराधना करे अर्थात् माध्याह्निक सामायिक करे। अभिषेक करने की प्रतिज्ञा करके जहां पर भगवान् का अभिषेक करना है। वहां की भूमि की शुद्धि करके चतुष्कुंभ से युक्त है कोण जिनकी ऐसी तथा कुश रखा हुआ है ऐसी पीठिका पर अर्थात् सिंहासन पर जिनेन्द्र भगवान् को स्थापित करके आरती उतार कर इष्ट दिशा में दिशा में स्थित होकर जल, फलरस, घृत, दुग्ध, दधि के द्वारा अभिषेक करके किया है, उद्धर्तन जिसने अर्थात् चन्दन का अनुलेपन करके चारों कोण के कलशों से तथा सुगन्धित जल से अभिषेक करे

तथा जलचन्दनादिक अष्टद्रव्य से पूजा करके और नित्य वन्दनादि विधि से नमस्कार करके करे अपने हृदय में भगवान को विराजमान करके अपनी शक्ति अनुसार भगवान् का ध्यान करे। इसके बाद वह श्रावक सच्चे गुरु के उपदेश से सिद्धचक्र पार्श्वनाथ यंत्रादि की और शास्त्र की तथा गुरुचरणों की पूजा करे क्योंकि कल्याण कार्यो में कौन तृप्त होता है। इसके बाद अपनी शक्ति और भक्ति के अनुसार मुनि आर्यिकादिक पात्रों को तथा सर्व अपने आश्रितों को सन्तुष्ट करके काल में जिससे अजीर्ण आदि न हो ऐसा अपनी प्रकृति के अविरुद्ध भोजन करे। वह श्रावक इसलोक और परलोक का विरोध नहीं करने वाले द्रव्यों को सदा सेवन करे। व्याधि की उत्पत्ति न होने देने में तथा उत्पन्न हो गई हो तो उसके नाश करने के लिए प्रयत्न करे; क्योंकि वह व्याधि ही संयम का घात करने वाली है। भोजन करने के बाद श्रावक थोड़ी देर विश्रांति लेकर गुरु, सहपाठी और अपना चाहने वालों के साथ जिनागम के रहस्य का विनयपूर्वक विचार करे।

सन्ध्याकालीन आवश्यक कर्मो को करके देव और गुरु का स्मरण कर वह श्रावक उचित समय में थोड़ी देर शयन करे तथा अपनी शक्ति अनुसार मैथुन को छोड़ दे। वह श्रावक रात्रि में निद्रा के भंग हो जाने पर फिर वैराग्य के द्वारा श्री तत्क्षण मन को संस्कृत करे; क्योंकि भली प्रकार अभ्यास किया हुआ वैराग्य का जिसने ऐसा आत्मा शीघ्र ही प्रशम सुख का अनुभव करता है। बड़े दु:ख की बात है कि दु:ख ही है लहरें जिसमें ऐसे संसार रूपी समुद्र में मोह से शरीर को आत्मबुद्धि से निश्चय करने वाले मैंने यह आत्मा बार-बार अनादि काल से कर्मो से बन्धित किया है। इसलिए इस मोह को ही लष्ट करने क लिए मैं सदैव प्रयत्न करता हूं। क्योंकि उस मोह के नष्ट हो जाने पर क्षीण हो गए हैं राग द्वेष जिसके ऐसी यह आत्मा स्वयमेव कर्मो से छूट जाती है।

पुण्य-पाप कर्म के विपाक से शरीर होता है। शरीर में इन्द्रियां होती हैं और इन इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होता है और स्पर्शादि विषय को ग्रहण करने से पुन: बन्ध होता है। इसलिए मैं इस बन्ध के कारणभूत विषयग्रहण को मूल से नाश करता हूँ। ज्ञानियों की संगीत तप और ध्यान के द्वारा भी जो असाध्य है अर्थात वश में नहीं किया जाने वाला काम शत्रु शरीर और आत्मा का

भेदज्ञान से उत्पन्न हुए वैराग्य के द्वारा ही वश में किया जाता है।

जिन्होंने शरीर और आत्मा के भेदज्ञान के लिए उस प्रकार के ऐश्वर्यादि युक्त राज्य को छोड़ दिया था वे भरतादि चक्रवर्ती धन्य हैं। किन्तु मेरे जैसे स्त्री की इच्दा की पराधीनता से दु:खी गृहस्थों को धिक्कार है।

सन्दर्भ

1. सागार धर्मामृत 1/8, 2. सागार धर्मामृत 1/9 3-6—

3. वही 1.10, 4. वही 1.11, 5. वही 1.19, 6. वही 1.20

7. रत्नकरण्ड श्रावकाचार-66, 8. सा.ध. 8-26, सागर धर्मामृत-2 2, 3, 18, 19, 20, 22, 40, 44, 54, 56, 59, 60, 61, 64, 65, 71, 77, 79,

9. वही 2/3, 10. वही 2/18, 11. वही 2/19, 12. वही 2/20

13. वही 2/22, 14. वही 2/40, 15. वही 2/44, 16. सा.ध. 2/54

17. वही-56, 18. वही 2/56, 19. वही 2/59, 20. वही 2/60

21. वही 2/61, 22. वही 2/64, 23. वही 2/65, 24. वही 2/71

25. सा.ध. 2/77, 26. वही 2/79, 27. सा.ध. 3/6, 28. वही 3/26

29. वही 3/27, 30. वही 3/28, 31. वही 4/16, 32. वही 5/49

- जैन मंदिर के पास, बिजनौर (उ.प्र.)

जैन दर्शन में जीवद्रव्य

- डॉ.श्रेयांस कुमार जैन

प्राचीन काल से भारत वर्ष में प्रधान रूप से आचार और विचार सम्बन्धित दो परम्पराएं विद्यमान हैं। आचार पक्ष का कार्य धार्मिकों ने सम्पादित किया और विचार पक्ष का बीड़ा भारतीय चिन्तक-मनीषियों ने उठाया। आचार का परिणाम धर्म का उद्भव और विचार का परिणाम दर्शन का उद्भव है।

दर्शन शब्द का सामान्य अर्थ है-देखना, साक्षात्कार करना तथा प्रत्यक्ष ज्ञान से किसी वस्तु का निर्णय करना।

भारतीयों के सामने "दु:ख से मुक्ति पाना" यही प्रधान प्रयोजन था। इसी प्रयोजन की सिद्धि हेतु विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं ने जन्म लिया। दु:ख से छुटकारा कराने वाली प्रमुख विचारधाराएं इस प्रकार हैं-चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्त) इन्हे विद्वानों ने आस्तिक और नास्तिक दो शाखाओं में विभाजित किया है। उत्तरवर्ती षड्वैदिक दर्शनों (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा) को आस्तिक और प्रथम तीन (चार्वाक, बौद्ध, जैन) को नास्तिक संज्ञा दी है।

वस्तुत: उक्त वर्गीकरण निराधार है। आस्तिक और नास्तिक शब्द अस्ति नास्ति दिष्टं मति:- पा. 4/4:30 इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार बने हैं। मौलिक अर्थ उनका यही था कि परलोक-सत्ता को मानने वाला आस्तिक और न मानने वाला नास्तिक कहलाता है। स्पष्टत: इस अर्थ में जैन और बौद्ध जैसे दर्शनों को नास्तिक कहा ही नहीं जा सकता है, क्योंकि इन दोनों में परलोक-सत्ता को दृढ़ता से स्वीकार किया गया है।

कुछ दार्शनिकों ने षड्दर्शन बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय स्वीकार किये हैं।

जैन दर्शन भारतीय दर्शनों का समन्वित स्वरूप है। इसमें द्रव्य का महत्वपूर्ण स्थान है। द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक[2] होता है। गुणपर्याय वाला द्रव्य

भी कहा गया है।[3] अनेक गुण और पर्याय युक्त द्रव्य के मूल षड्भेद हैं–जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल[4]।

प्रथम जीव-द्रव्य का जैन दर्शन में स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में विशद विवेचन प्राप्त होता है। उसी का संक्षिप्त निर्देशन किया जा रहा है–

जीव का सामान्य स्वरूप उपयोग[5] है। उपयोग का अर्थ है–ज्ञान और दर्शन।

ज्ञानोपयोग दो प्रकार का है–स्वभावज्ञान और विभावज्ञान। जो केवल-निरुपाधिरूप, इन्द्रियातीत तथा असहाय अर्थात् प्रत्येक वस्तु में व्यापक है, वह स्वभावज्ञान है और उसी का नाम केवलज्ञान है।[6] विभावज्ञान सज्ज्ञान और असज्ज्ञान के भेद से दो तरह का है। सज्ज्ञान चार प्रकार का है–मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय। कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि के भेद से असज्ज्ञान तीन प्रकार का है। इसी प्रकार दर्शनोपयोग भी दो प्रकार[7] का है–स्वभावदर्शनोपयोग और विभावदर्शनोपयोग। जो इन्द्रियरहित और असहाय है, वह केवल दर्शन स्वभावदर्शनोपयोग। जो इन्द्रियरहित और असहाय है, वह केवल दर्शन स्वभावदर्शनोपयोग है। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीनों विभाव दर्शनोपयोग हैं।

ज्ञानदर्शनरूप उपयोगमय जीव ही आत्मा है। चेतयिता है। अकलंकदेव ने कहा है कि दशसु प्राणेषुयथापात्तप्राणपर्यायेण त्रिषु कालेषु जीवनानुभवनात् जीवति अजीवीत् जीविष्यति वा जीव:, राजवार्तिक 9/47/25।

जैन दर्शन में जीव (आत्मा) के स्वरूप का प्रतिपादन सभी दर्शनों को दृष्टि में रखकर किया गया है। इसके स्वरूप से सम्बन्धित प्रत्येक विशेषण किसी न किसी दर्शन से सम्बन्ध रखता है–जैसा कि नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव की गाथा से स्पष्ट है–

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई।। - द्रव्यसंग्रह, 2

जीव, उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्त्ता है, स्वदेहपरिणामी है, भोक्ता है,

संसारी है, सिद्ध है, और स्वभाव से उर्ध्वगमन करने वाला है।

चार्वाक आत्मा का स्वतन्त्र न मानकर शरीर को आत्मा मानता है।

जीव सदा जीता है, वह अमर है- कभी नहीं मरता है। उसका वास्तविक प्राण चेतना है जो उसी की तरह अनादि और अनन्त है। उसके व्यावहारिक प्राण भी होते हैं, जो पर्याय के अनुमार परिवर्तित होते रहते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां, मनोबल, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु से दस प्राण संज्ञी पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, नारकियों में होते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय के नव प्राण, चार इन्द्रिय वाले के आठ, तीन इन्द्रिय वाले के सात, दो इन्द्रिय वाले के छः और एकेन्द्रिय के चार प्राण होते हैं। योनियों के चैतन्य नष्ट नहीं होता। अतएव शरीर की अपेक्षा जीव (आत्मा) भौतिक है और चेतना की अपेक्षा अभौतिक है।

नैयायिक और वैशेषिक आत्मा को ज्ञान का आधार मानते हैं। जैन दर्शन में आत्मा को आधार और ज्ञान को आधेय नहीं माना गया, किन्तु जीव (आत्मा) ज्ञानस्वभाव वाला माना गया है जैसे कि अग्नि ऊष्णस्वभावात्मक है। अपने से सर्वथा भिन्न ज्ञान से आत्मा कभी ज्ञानी नहीं हो सकता है।[8]

भाट्टमतानुयायी मीमांसक और चार्वाक आत्मा को मूर्त पदार्थ मानते हैं, किन्तु जैन दर्शन की मान्यता है कि पुद्गल में जो गुण विद्यमान है, आत्मा उनसे रहित है जैसा कि कहा गया है--

अरसरुवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंग्गहणं जीवमणिदिट्ठसंठाणं।।[9]

-जीव को रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, स्पर्शरहित, शब्दरहित, पुद्गल रूप लिंग (हेतु) द्वारा नहीं ग्रहण करने योग्य, जिसके किसी खाम आकार का निर्देश नहीं किया जा सकता ऐसा और चेतना गुण वाला जानो।

इस प्रकार यह अमूर्त है तो अनादिकाल से कर्मो से बंधा हुआ होने के कारण व्यवहार दृष्टि से उसे कथंचित् मूर्त भी कहा जा सकता है। शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा मूर्त। यदि उसे सर्वथा मूर्त माना जायेगा, तो उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा। पुद्गल और उसमें भेद नहीं रहेगा। अतएव कथंचित् की दृष्टि से निर्धारित किया गया है।

भारतीय दर्शनों में आत्मा के आकार के सम्बन्ध में मतान्तर प्रचलित है। न्याय वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक आदि आत्मा का अनेकत्व स्वीकार करते हुए आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार आकाश सर्वव्यापक है उसी प्रकार आत्मा (जीव) भी सर्वव्यापक है। उपनिषद् में आत्मा के सर्वगत और सर्वव्यापक होने का उल्लेख है।[10] अगुंष्ठमात्र[11] तथा अणुमात्र[12] होने का भी निर्देश है।

जैन दर्शन में कहा गया है कि आत्मा प्रदेशों का दीपक के प्रकाश की भांति संकोच और विस्तार होने से वह (जीव) अपने छोटे-बड़े शरीर के परिमाण का हो जाता है। अर्थात् हाथी के शरीर में उसी जीव के प्रदेशों का विस्तार और चींटी के शरीर में संकोच हो जाता है।

जह पउमरायरणं खित्त खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमित्तं पभासदि॥ -पंचास्तिकाय, ३३

-जैसे दूध में डाली हुई पद्मरागमणि उसे अपने रंग से प्रकाशित कर देती है, वैसे ही देह में रहने वाला आत्मा भी अपनी देहमात्र को अपने रूप से प्रकाशित कर देता है। अर्थात् वह स्वदेह में ही व्यापक है देह के बाहर नहीं, इसीलिए जीव स्वदेह परिमाण वाला है। यह स्थिति समुद्घात दशा के अतिरिक्त समय की है। समुद्घात में तो उसके प्रदेश शरीर के बाहर भी फैल जाते हैं। यहां तक कि सारे लोक में व्याप्त हो जाते हैं। इसीलिए जैन दर्शन में आत्मा (जीव) को कथंचित् व्यापक तथा कथचिंत् अव्यापक माना गया है।

सांख्य दर्शन में आत्मा के कर्तृत्व को स्वीकार न कर भोक्तृत्व को स्वीकार किया है।[13] कर्तृत्व तो केवल प्रकृति में है, पुरुष (जीव) निष्क्रिय है। जैन दर्शन के अनुसार जीव (आत्मा) व्यवहार नय से पुद्गल कर्मों, अशुद्ध निश्चय नय से चेतन कर्मों का और शुद्ध निश्चय नय से अपने ज्ञानदर्शन आदि शुद्ध भावों का कर्त्ता है।

कत्तासुहासुहाणं कम्माणं फलभोयओ जम्हा।

जीवो तप्फलभोया भोया सेसा ण कत्तारा॥ -वसुनन्दि श्रावकाचार 35

जीव अपने शुभ और अशुभ कर्मों का कर्त्ता है क्योंकि वही उनके फल

का भोक्ता है। इसके अतिरिक्त कोई भी द्रव्य न कर्मों का भोक्ता है और न कर्त्ता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व का कोई विरोध नहीं। यदि भोक्ता मानता है तो कर्त्ता अवश्य मानना होगा। इस प्रकार एक दृष्टि से कर्त्ता और दूसरी दृष्टि से अकर्त्ता है।

बौद्धदर्शन क्षणिकवादी है। अत एव वह आत्मा के कर्त्ता और भोक्ता के रूप का ऐक्य स्वीकार नहीं करता है। यदि आत्मा को कर्मफल का भोक्ता नहीं माना जायेगा, तो जो कर्म करेगा उसे फल प्राप्त न होकर अन्य को फल प्राप्त होगा। इससे अव्यवस्था हो जाएगी। इसलिए आत्मा अपने कर्मों के फल का भोक्ता अवश्य है। इतना अवश्य है कि आत्मा सुख-दुःख रूप पुद्गल-कर्मो का व्यवहार दृष्टि से भोक्ता है और निश्चय दृष्टि से वह अपने चेतन भावों का ही भोक्ता है। अतएव वह कथचिंत् भोक्ता और कथचिंत् अभोक्ता है।

सदाशिवदर्शन में कहा गया है कि आत्मा कभी भी संसारी नहीं होता, वह हमेशा शुद्ध बना रहता है। कर्मो का उस पर कोई असर नहीं पड़ता, कर्म उसके हैं ही नहीं। जैन दर्शन का इस सम्बन्ध में भिन्न दृष्टिकोण है कि प्रत्येक जीव पहले संसारी होता है, तदनन्तर मुक्तावस्था को प्राप्त होता है। संसारी अशुद्ध जीव है। अनादि काल से जीव अशुद्ध है, वह ध्यान के बल से कर्मो का संवर-निर्जरा और पूर्ण क्षय करके मुक्त होता है। पुरुषार्थ से शुद्ध होता है। जीव यदि पहले संसारी नहीं होता तो उसे मुक्ति के उपाय भी खोजने की आवश्यकता नहीं थी। जैन दर्शन का यह भी कहना है कि जीव को संसारस्थ कहना व्यावहारिक दृष्टिकोण है। शुद्ध नय से तो सभी शुद्ध हैं। इस प्रकार जैन दर्शन जीव को एक नय से विकारी मानकर दूसरे नय से अविकारी मान लेता है।

भाट्ट-दार्शनिक मुक्ति को स्वीकार नहीं करते हैं, उसके अनुसार आत्मा का अन्तिम आदर्श स्वर्ग है। आत्मा सदा संसारी ही रहता है, उसकी मुक्ति होती ही नहीं, मुक्ति नाम का कोई पदार्थ नहीं है। चार्वाक तो जीव की सत्ता ही नहीं मानता। तब मुक्ति को भी कैसे स्वीकार करेगा, वह तो स्वर्ग को भी नहीं मानता। जैनदर्शन की मान्यता है कि आत्मा ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों को नष्ट करके सिद्ध हो जाता है, इसलिए सिद्ध का स्वरूप बताते हुए सिद्धान्तदेव

नेमिचन्द्र ने कहा है–

णिकम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदोसिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता।। – द्रव्यसंग्रह,14

जो ज्ञानावरणादि आठ कर्मो से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों के धारक है और अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले हैं, वे सिद्ध है और उर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद-व्यय से युक्त हैं।

जीव के संसारी और मुक्त दोनों विशेषण तर्कसंगत है। हां, जैन दर्शन में कुछ जीव अभव्य होते हैं, जिनको मुक्ति नहीं मिलती।

माण्डलिक का कहना है कि जीव निरन्तर गतिशील है वह कहीं भी नहीं ठहरता, चलता ही रहता है। जैन दर्शन क उसे उर्ध्वगमन वाला मानकर भी वहीं तक गमन करने वाला मानता है, जहां तक धर्म द्रव्य है। वास्तविक स्वभाव उर्ध्वगमन है। अशुद्ध दशा में कर्म जिधर ले जाते हैं, वहां जाता है, किन्तु कर्मरहित जीव उर्ध्वगमन करता है और लोक के अग्रभाग में ठहर जाता है। इसके आगे द्रव्य की गति नही होती है इसलिए जीव उर्ध्वगामी होकर भी निरन्तर उर्ध्वगामी नहीं है, यह जैन दर्शन की मान्यता है।

जीव द्रव्य के लिए प्रयुक्त सभी विशेषण सार्थक हैं तद् तद् दर्शनों की मान्यताओं के प्रतिपक्ष के रूप में उल्लिखित हैं।

यह जीवद्रव्य दो प्रकार के हैं 1. संसारी 2. मुक्त[14]। जो अपने संस्कारों के कारण नाना योनियों में शरीरों को धारण कर जन्म-मरण रूप से संसरण करते हैं, वे संसारी हैं। जो मन, वचन और कायरूप दण्ड अर्थात् योगों से रहित हैं, जिसे किसी प्रकार का आलम्बन नहीं, जो रागरहित, द्वेषरहित, मूढ़तारहित और भयरहित हैं वही आत्मा सिद्धात्मा[15] हैं।

इन्द्रिय की अपेक्षा से जीव के भेद– एकेन्द्रिय जीव के केवल स्पर्शनेन्द्रिय होती है।[16] पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय से पांच प्रकार के स्थावर एकेन्द्रिय है। दो, तीन, चार और पंचन्द्रिय वाले सभी जीव त्रस होते हैं। दो इन्द्रिय के स्पर्शन और रसना इन्द्रिय होती है जैसे लट

आदि। तीन इन्द्रिय के स्पर्शन, रसना और घ्राणेन्द्रियां होती हैं जैसे पिपीलका आदि। चार इन्द्रिय के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रिय होती है जैसे भ्रमर आदि। पंचेन्द्रिय के भी दो भेद हैं, संज्ञी और असंज्ञी। मनसहित मानव, पशु, देव, नारकी संज्ञी हैं।[17] मनरहित तिर्यंच जाति के जलचर, सर्प आदि असंज्ञी हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है जैन दर्शन में व्यापक रूप से जीव द्रव्य का आख्यान किया गया है जब कि अन्य दर्शनों में एक-एक अंश का अवलम्बन किया गया है। प्रस्तुत लेख में जीव-द्रव्य की महत्ता को बतलाते हुए जैन दर्शन में इसके स्वतन्त्र अस्तित्व और बहु-व्यापकता पर संक्षिप्त प्रकाश मात्र डाला गया है।

1. "दर्शनानि षडेवात्रमूलभेदापेक्षया–
   बौद्धं नैयायिकं सांख्यं, जैनं वैशेषिकं तथा।
   जैमिनीयं च नामानि, दर्शनानामभूत्यहो।।", षड्दर्शनसमुच्चय, 3
2. "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, तत्वार्थसूत्र, 5/30
3. "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" वही, 5/38
4. "जीवापोग्गल काया धम्माधम्मा य काल आयासं।
   तच्चत्था इदि भणिदा णाणगुणपज्जएहिं संजुत्ता।।", नियमसार, गा.9
5. "जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होई।
   पाणुवओगी दुविहो सहावणाणं विभावणाणत्ति।।" वही, गा. 13
6. वही, 11-12
7. नियमसार, 13-14
8. "जीवो णाणसहावो जह अग्गी उह्वो सहावेण।
   अत्थंतरभूदेण हि णाणेण ण सो हवे णाणी।।" कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 178
9. समयसार, 49
10. "सर्वव्यापिनमात्मानम्" श्वेता., 1/16
11. "अंगुष्ठमात्रपुरुषः।", वही, 3/13
12. कठोपनिषद् 9/2/20
13. सांख्यकारिका, 17-19
14. "संसारिणोमुक्ताश्च", तत्वार्थसूत्र, 10

15. "णिद्दंडो णिद्द्वन्द्वो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा।।", नियमसार, 43
16. "एइंदियस्य फसणं एक्कं चिय होइ सेस जीवाणं।
एयाहिया य तत्तो जिब्भाघाणक्खि सोत्ताइं।।", पंचास्तिकाय, 1/67
17. "संज्ञिन: समनस्का:।", तत्वार्थसूत्र, 2/24

- प्रवक्ता-संस्कृत दि० जैन कॉलेज, बड़ौत

उपादान एक और सहकारी अनेक

उपादान एक और सहकारी अनेक होते हैं। जैसे घट की उत्पत्ति में उपादान कारण मृत्तिका और सहकारी कारण दण्ड-चक्र-चीवर-कुलालादि हैं। यद्यपि घट की उत्पत्ति मृत्तिका में होती है, अत: मृत्तिका ही उसका उपादान कारण है, फिर भी कुलालादि कारण कूट के अभाव में घट रूप पर्याय मृत्तिका में नहीं देखी जाती, अत: ये कुलालादि घटोत्पत्ति में सहकारी कारण माने जाते हैं। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने जहाँ कारण के स्वरूप का निर्वचन किया है, वहाँ **'सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणं'** अर्थात् सामग्री ही कार्य की जनक है, एक कारण नहीं, यही तो लिखा है। अत: इस विषय में कुतर्क करना विद्वानों को उचित नहीं। यहाँ पर मुख्य गौण न्याय की आवश्यकता नहीं। वस्तु स्वरूप जानने की आवश्यकता है, **'अन्वय व्यतिरेकगम्यो हि कार्य कारणभाव:'** अर्थात् कार्यकारण भाव अन्वय व्यतिरेक दोनों से जाना जाता है, अत: दोनों ही मुख्य है। जब उपादान की अपेक्षा कथन करते हैं तब घट का उपादान मिट्टी है और निमित्त की अपेक्षा निरूपण किया जाए तो कुलालादि कारण हैं।

-पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी,
मेरी जीवन गाथा-भाग 2, 195-196

अनेकांतवाद का मर्म

-कैलाश बाजपेयी

इंद्रभूतिगणधर ने भगवान महावीर से प्रश्न किया:-

'तत्त्व क्या है? भगवान ने उत्तर दिया- 'यही कि पदार्थ उत्पन्न होता है।

इंद्रभूति- 'भंते! पदार्थ यदि उत्पत्तिधर्मा है तो वह लोक में समाएगा कैसे?

भगवान- 'पदार्थ नष्ट होता है।'

इंद्रभूति- 'पदार्थ विनाश धर्मा है तो वह उत्पन्न होगा और नष्ट हो जाएगा, तब फिर शेष क्या रहेगा?'

भगवान- 'पदार्थ ध्रुव है।'

इंद्रभूति- 'भगवान! जो उत्पाद व्ययधर्मा है वह ध्रुव कैसे होगा? क्या उत्पाद, व्यय और ध्रुवता में विरोधाभास नहीं है?'

भगवान- यह विरोधाभास नहीं, सापेक्ष दृष्टिकोण है।

कुटिया में अंधेरा था। दीप जला कि प्रकाश हो गया। वह बुझा कि फिर अंधेरा हो गया। प्रकाश और अंधकार पर्याय हैं। इसका परिवर्तन होता रहता है। परमाणु ध्रुव हैं। उनका अस्तित्व तामस और तेजस दोनों पर्यायों में अखंड है और अबाध रहता है।

इसे भगवान महावीर की त्रिपादी की त्रिपथगा कहते हैं। दर्शन के इतिहास में, जैन चिंतन शैली को अनेकांतवाद नाम से जाना जाता है जिसका प्रतिपादन जैनाचार्य स्याद्वाद नाम से करते हैं। यह तो सभी मानेंगे कि ज्ञान अपरिमित है मगर ज्ञान को वाणी द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। ज्ञान अनंत, ज्ञेय भी अनंत, मगर वाणी सांत! हम जो कह पाते हैं वह परिमित है फिर उसे जो सुनने वाला है यह बिल्कुल आवश्यक नहीं कि वह उतना ही जानकार हो। हमारे आसपास यह जो कुतर्क और तर्क के बीच घमासान है उसका कारण

यही है कि हम जाने कुछ और, और कह कुछ और जाते हैं। इसी तरह सुनने वाला भी नहीं सुन पाता है कि जो वह जानता है। यही स्याद्वाद की जड़ है। स्याद्वाद यानी अनेकांतात्मकता। स्याद्वाद, का आधार है अपेक्षा। अपेक्षा वहा होती है जहां हम चाहें कुछ और जबकि वास्तविकता कुछ और हो। जाहिर है तब वहां विरोध होगा। विरोध वहीं होगा जहां एक पक्ष का आग्रह 'अ' हो और उभयपक्ष का 'ब'। विरोध तब नहीं होगा जब दोनों अपने-अपने पक्ष के प्रति कुछ कुछ और जानने के इच्छुक हों।

डॉ. देवराज ने लिखा है:- 'स्याद्वाद का अर्थ है शायदवाद। अपने अतिरंजित रूप में स्याद्वाद संदेहवाद का भाई है। 'स्याद्वाद का उद्गम अनेकांत वस्तु है। जो वस्तु सत् है वही असत् भी है। मगर जिस रूप से सत् है उसी रूप से असत् नहीं है। जैनाचार्यो के आधार पर वस्तु-तत्व का प्रतिपादन करने वाला वाक्य संशयात्मक हो ही नहीं सकता।

भगवान महावीर ने इसी स्याद्वादी पद्धति के आधार पर अनेक प्रश्नों के उत्तर दिए हैं। उदाहरण के लिए:-

द्रव्य-दृष्टि से सांत है।
क्षेत्र-दृष्टि से सांत है। किंतु
काल-दृष्टि से अनंत है!
भाव दृष्टि से अनंत है!

एक अन्य स्थल पर, प्रश्न किए जाने के बाद तीर्थकर महावीर स्पष्ट करते हैं- 'जीव शाश्वत है। वह कभी भी नहीं था, नहीं है और नहीं होगा- ऐसा नहीं होता। वह था, है और आगे भी होगा, रहेगा। इसलिए वह ध्रुव, नित्य, अक्षय, शाश्वत और अव्यय है।' आगे भगवान महावीर कहते हैं जीव अशाश्वत है- वह नैरयिक होकर तिर्यंच हो जाता है एक दिन देव योनि में आ जाता है फिर भव-बाधाओं को पार कर, आत्मपरिष्कार करता हुआ एक दिन सिद्ध हो जाता है-संसार बंधन से छूट जाता है। क्योंकि उसका अवस्था-चक्र बदलता रहता है इसलिए जीव अशाश्वत भी है। सिद्ध होने के बाद शाश्वत।

अनेकांतवाद के अनुसार, यह जो चेतना और अचेतन का मिला जुला रूप

है द्विनियत्व (दुनिया शब्द इसी से बना है) इसे ही परमार्थ सत्य मानना अनेकांत की विशेषता है। सत्य की एक विशेषता यह है, बल्कि नियम, कि दुनिया में कुछ भी एक सा नहीं है सर्वथा समान भी नहीं और असमान भी नहीं। अस्तित्व विपरीत का जोड़ है। एक तरह से देखें तो सब कुछ सब कुछ के विरोध में है। मगर अगर थोड़ी तटस्थतता आ जाए तो कहीं विरोध नही दीखता। नास्तिक भी यहां, उतना ही भयभीत है जितना आस्तिक। हर सदाशयी व्यक्ति कभी न कभी संशय से होकर गुजरता ही है और हर नास्तिक भी अक्सर घबड़ाकर प्रार्थना करता दिखाई पड़ जाता है। आदमी की हताशा का कारण ही यह है कि वह अनेकांत के नियम को नहीं जानता। वह जब स्वस्थ होता है तो यह स्वीकार ही नहीं करता कि वह कभी भी विषाणु की गिरफ्त में आ सकता है। वह यह भूल जाता है कि कोई भी पर्याय संप्रत्यय शाश्वत नहीं है। सब पर्याय बदलती रहती हैं। आज परिस्थिति यदि प्रतिकूल है तो कल अनुकूल भी हो जाएगी।

ईश्वर पर विश्वास करने वाले भी उतने ही विक्षिप्त होते हैं जितना उस पर अविश्वास करने वाले। इसलिए कि अविश्वास करने के पहले, विरोध करने के पहले, वह उपादान, वह अवधारणा भी तो चाहिए जिसके विरोध में हम निकल पड़े हैं। सर्वथा विरोध, यानि सर्वथा अविरोध, सर्वथा सहमति अथवा सर्वथा असहमति ये केवल विपर्यय हैं। अगर सब दक्षिणपंथी हो जाए तो वाम कहां जाएगा। वाम के कारण ही तो दक्षिणपंथ का अस्तित्व है। दोनों के अस्तित्व के लिए दोनों का होना जरूरी है। पता नहीं ऐसा क्यों मान लिया गया है कि अनेकांत दृष्टि केवल तत्ववाद तक ही सीमित है जिंदगी से उसका कुछ लेना-देना नहीं। जबकि जीवन स्वयं भी तो तत्व ही है, थोड़े से रसायनों का घोल फिर इतनी मारामारी क्यों?

-डी०-203 **साकेत, नई दिल्ली**-110017

शिक्षाव्रतों में अतिथिसंविभाग व्रत का महत्त्व

-डॉ.सुरेन्द्रकुमार जैन 'भारती'

बचपन में पढ़ा था कि "सांई इतना दीजिये, जामें कुटुम समय मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय।" जब जैनधर्म के अध्ययन के प्रति उन्मुख हुआ तो शिक्षाव्रतों के अन्तर्गत अतिथिसंविभागव्रत को जाना और उपर्युक्त पंक्तियों को हृदयंगम किया कि बस मुझे इतना चाहिए कि जिसमें मेरा कुटुम्ब भली प्रकार जीवन यापन कर सके। मैं भी भूखा न रहूँ और मेरे द्वार पर आने वाला साधु भी भूखा न जाय। वास्तव में अतिथिंसविभाग इसलिए व्रत है क्योंकि इसमें सामाजिक सहअस्तित्व की भावना है जो समाज के चरित्रवान्, श्रद्धावान् एवं साधर्मोजनों के संरक्षण को नियमबद्ध करती है। यह नीति युगसापेक्ष नही अपितु कालातीत धर्म सापेक्ष भी है। जिनमें साधु बनने की भावना है, जिन्हें साधु प्रिय हैं उन्हें साधु की निकटता का लाभ हितकर ही होता है अत: शिक्षाव्रतों को आचरणीय बताया गया।

शिक्षाव्रत-

जिन व्रतों के पालन करने से मुनिव्रत धारण करने की या मुनिव्रत धारण की शिक्षा मिलती है उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं।[1] सागार घर्मामृत की टीका मे लिखा है कि "शिक्षायै अभ्यासाय व्रतम्"।[2] ये चार माने गये हैं- सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोप-भोगपरिमाण तथा अतिथिसंविभागव्रत।[3] शिक्षाव्रतों को सप्तशील के अन्तर्गत समाहित किया गया है। आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार-

परिधय इवनगराणि व्रतानि किल पालयंति शीलानि।
व्रत पालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि॥[4]

अर्थात् जिस प्रकार नगरों की रक्षा परकोंट से करते हैं उसी प्रकार निश्चय से व्रतों की रक्षा शील करते हैं। इसलिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य रूप पाँच व्रतों की रक्षा एवं पालन करने के लिये शीलों का भी पालन

करना चाहिये। ये सात शील हैं– तीन गुणव्रत (दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डत्यागव्रत) तथा चार शिक्षाव्रत (सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथिसंविभागव्रत)।

'अतिथिसंविभागव्रत' जानने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि अतिथि कौन है?

अतिथि–

'सर्वार्थसिद्धि' में आचार्यपूज्यवाद स्वामी ने लिखा है कि– "संयमविनाशयन्नततीत्यतिथि:। अथवा नास्य तिथिरस्तीत्यतिथि: अनियतकालागमन इत्यर्थ:।"[6] अर्थात् संयम का विनाश न हो, इस विधि से जो आता है वह अतिथि है या जिसके आने की कोई तिथि नहीं है उसे अतिथि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसके आने का कोई काल निश्चित नहीं है उसे अतिथि कहते हैं। 'सागार धर्मामृत' के अनुसार–

तिथिपर्वोत्सवा: सर्वे त्यक्ता येन महात्मना।
अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदु:॥

अर्थात् जिस महात्मा ने तिथि, पर्व, उत्सव आदि सब का त्याग कर दिया है अर्थात् अमुक पर्व या तिथि में भोजन नहीं करना, ऐसे निमय का त्याग कर दिया है, उसको अतिथि कहते हैं शेष व्यक्तियों को अभ्यागत कहते हैं।

चारित्रपाहुड़ टीका के अनुसार– "न विद्यते तिथि: प्रतिपदादिका यस्य" सोऽतिथि:। अथवा संयमलाभार्थमतति गच्छति उदद्ण्डचर्या करोतीत्यतिथिर्यति:।[7] जिसको प्रतिपदा आदिक तिथि न हों वह अतिथि है अथवा संयम पालनार्थ जो विहार करता है, जाता है, उद्‌दण्डचर्या करता है ऐसा यति अतिथि है।

अमितगति श्रावकाचार के अनुसार–

"अतति: स्वयंमेव गृहं संयमविराधयन्ननाहूत:।
य: सोऽतिथिरुछिष्ट: शब्दार्थ विचक्षणे साधु:॥–95

अर्थात् जो संयमी बिना बुलाये ही संयम की विराधना किये बिना गृहस्थ के घर आता है वह अतिथि कहलाता है।

अतिथि संविभाग व्रत–

'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार– "अतिथिये संविभागोऽतिथि संविभागः। स चतुर्विधः भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रय भेदात्। मोक्षार्थमभ्युद्यतायातिथये संयमपरायणामय शुद्धाय शुद्धचेतसा निरवद्या भिक्षा देया। धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनाद्युपबृंहणानि दातव्यानि। औषधमपियोग्यमुपयोजनीयम्। प्रतिश्रयश्च परमधर्म श्रद्धया प्रतिपादयितव्य इति। 'च' शब्दो वक्ष्यमाण गृहस्थधर्मसमुच्चयार्थः।"[8] अर्थात् अतिथि के लिए विभाग करना अतिथि संविभाग है। यह चार प्रकार का है– भिक्षा, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय अर्थात् रहने का स्थान। जो मोक्ष के लिए बद्धकक्ष है, संयम के पालन करने में तत्पर है और शुद्ध है, उस अतिथि के लिए शुद्धमन से निर्दोष भिक्षा देनी चाहिए। सम्यग्दर्शन आदि के बढ़ाने वाले धर्मोपकरण देने चाहिए। योग्य औषध की योजना करनी चाहिए तथा परम धर्म का श्रद्धापूर्वक निवास स्थान भी देना चाहिए। सूत्र में 'च' शब्द है वह आगे कहे जाने वाले गृहस्थ धर्म के संग्रह करने के लिए दिया गया है।

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' के अनुसार–

तिविहे पत्तह्मि सया सद्धाइ-गुणेहि संजुदो णाणी।
दाणं जो देदि सयं णव-दाण-विहोहि संजुत्तो॥
सिक्खावयं च तिदियं तस्स हवे सव्वसिद्धि-सोक्खयरं।
दाणं चउविहं पि य सत्वे दाणाण सारयरं॥[9]

अर्थात् श्रद्धा आदि गुणों से युक्त जो ज्ञानी श्रावक सदा तीन प्रकार के पात्रों को दान की नौ विधियों के साथ स्वयं दान देता है उसे तीसरा (अतिथिसंविभाग) शिक्षा व्रत होता है। यह चार प्रकार का दान सब दानों में श्रेष्ठ है और सब सुखों का व सब सिद्धियों का करने वाला है।

'सागर धर्मामृत' के अनुसार

व्रतमतिथि संविभागः पात्र विशेषाय विधि विशेषेण।

द्रव्य विशेषवितरणं दातृ विशेषस्य फलं विशेषाय॥

अर्थात् जो विशेष दाता का विशेष फल के लिए, विशेष विधि के द्वारा, विशेष पात्र के लिए, विशेष द्रव्य का दान करना है वह अतिथि संविभाग व्रत

कहलाता है। 'तत्त्वार्थसूत्र में भी बताया है कि दान में विशेषता विधि द्रव्य, दाता, पात्र की विशेषता से आती है-''विधिद्रव्य दातृ विशेषात्तद्विशेषः-''[11]

'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में आचार्य समन्तभद्र ने अतिथिसंविभाग व्रत का उल्लेख 'वैय्यावृत्त्य' में किया है उनके अनुसार-गृहत्यागी, गुणनिधान तपोधन को अपना धर्मपालन करने के लिए उपचार और उपकार की अपेक्षा से रहित होकर विधिपूर्वक अपने विभव के अनुसार दान देने को वैय्यावृत्त्य कहा है।

दानं वैय्यावृत्य धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।

अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन॥[12]

पात्र (अतिथि) तीन प्रकार के माने गये हैं- उत्तम, मध्यम और जघन्य उत्तम पात्र मुनि हैं, मध्यम पात्र आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक तथा प्रतिमाधारी व्रती श्रावक हैं और जघन्य पात्र अव्रत सम्यग्दृष्टि श्रावक श्राविका कहलाते हैं। सामान्य साधर्मी जन भी जघन्यपात्रों की कोटि में आते है। 'पद्मनन्दिपंचविंशतिका' में बताया है कि-

सत्पात्रेषु यथाशक्तिं दानं देयगृहस्थिते।

दानहीना भवेत्तेषां निष्फलैव गृहस्थिता॥[13]

अर्थात् गृहस्थों को सत्पात्रों के लिए यथाशक्ति दान देना चाहिए। दानहीन गृहस्थ का जीवन निष्फल होता है।

'पुरूषार्थ सिद्ध्युपाय' में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि-

विधिना दातृगुणवता द्रव्य विशेषस्य जातरूपाय।

स्वपरानुग्रह हेतोः कर्त्तव्योऽवश्यमतिथये भागः॥

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चन प्रणामं च।

वाक्काय मनः शुद्धिरेषण शुद्धिश्च विधिमाहुः॥

ऐहिक फलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम्।

अविषादित्वमुदित्वे निरहंकारमिति हि दातृगुणाः॥

रागद्वेषासंयममदद़ुःख भयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरम्।।
पात्रं त्रिभेदयुक्त संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरत सम्यग्दृष्टि विरताविरतश्च सकलविरतश्च।।
हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथि वितरणं हिंसा व्युपरणमेवेष्टम्।।
गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते।
वितरति यो नातिथये सकथं न हि लोभवान् भवति।।
कृतमार्थाय मुनयं ददति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव।।

अर्थात् दाता के गुणों से युक्त श्रावक को स्वपर अनुग्रह के हेतु विधि -पूर्वक यथाजात रूप धारी अतिथि साधु के लिए द्रव्य विशेष का संविभाग अवश्य करना चाहिए। अतिथि का संग्रह (प्रतिग्रह, पड़गाहन) करना, उच्चासन देना, पाद प्रक्षालन करना, पूजन करना, प्रणाम करना तथा वचनशुद्धि, कायशुद्धि, मनःशुद्धि और भोजन शुद्धि, इस नवधाभक्ति को आचार्यो ने दान देने की विधि कहा है। इस लोक सम्वधी किसी भी प्रकार के फल की अपेक्षा न रखना, क्षमा धारण करना, निष्कपट भाव रखना, ईर्ष्या न करना, विषाद न करना, प्रमोदभाव रखना और अहंकार न करना ये दाता के सात गुण कहे गये हैं। जो वस्तु राग द्वेष, असंयम, मद, दुःख और भय आदि को न करे और तप एवं स्वाध्याय की वृद्धि करे, वह द्रव्य अतिथि को देने योग्य है। जिसमें मोक्ष के कारण भूत सम्यग्दर्शनादि गुणों का संयोग हो वह पात्र कहलाता है। उसके तीन भेद कहे गये हैं- उसमें अविरतसमयग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं। देशविरत मध्यम पात्र हैं और सकलविरत साधु उत्तम पात्र हैं। यतः पात्र को दान देने पर हिंसा का पर्यायभूत लोभ दूर होता है। अतः अतिथि को दान देना हिंसा का परित्याग ही कहा गया है। जो गृहस्थ अपने घर पर आये हुए गुणशाली मधुकरी वृत्ति से दूसरों को पीड़ा नहीं पहुँचाने वाले ऐसे अतिथि के लिए दान नहीं देता

है वह लोभवाला कैसे नहीं है अर्थात् अवश्य ही लोभी है। जो अपने लिये बनाये गये भोजन को मुनि के लिए देता है, आरति और विषाद से विमुक्त हैं और लोभ जिसका शिथिल हो रहा है ऐसे गृहस्थ का भावयुक्त त्याग (दान) अहिंसा स्वरूप है अर्थात् अतिथि के लिए उपर्युक्त नवधाभक्ति से दिया गया दान अहिंसा स्वरूप ही है। यह अतिथि संविभागव्रत नामक चौथा शिक्षाव्रत है।

'यशस्तिलक चम्पू' में दाता के सातगुण इस रूप में भी बताये हैं-

श्रद्धा तुष्टिर्भक्ति विंज्ञानमलुब्धता क्षमाशक्तिः।

यत्रैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति॥[15]

अर्थात् जिस दाता में श्रद्धा, सन्तोष, भक्ति, विज्ञान, अलोभी-पना, क्षमा और शक्ति ये सात गुण पाये जाते हैं, वह दाता प्रशंसा के योग्य होता हैं। जैसे ही वह अपने सामने से किन्हीं मुनिराज को आहार मुद्रा में निकलते देखता है तो बड़े हर्ष के साथ निवेदन करता है कि हे स्वामी, नमोस्तु! नमोस्तु! आइए, आइए, ठहरिए, ठहरिए, हमारा आहार-जल शुद्ध है। यदि मुनिराज उसकी प्रार्थना सुनकर ठहर जाते हैं तो वह उनकी तीन प्रदक्षिणा देता है, वह अत्यन्त विनय के साथ उन्हें अपने घर में प्रवेश करने का निवेदन करता है, उसकी उक्त, किया को प्रतिग्रह या पड़गाहन कहते है। गृहप्रवेश होने के बाद उन्हे उच्चासन पर विराजमान कर सर्वप्रथम प्रासुक जल से उनके चरणों को धोकर अहोभाव से अपने मस्तक पर लगाता है तत्पश्चात्, जल, गंध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलरूप अष्ट द्रव्यों से उनकी पूजा करता है। उसके बाद वह उन्हें प्रणाम कर निवेदन करता है कि हे स्वामी हमारा मन शुद्ध है, शरीर से भी हम शुद्ध है। हमारे द्वारा निर्मित आहार जल भी अत्यन्त शुद्ध है, कृपा कर भोजन ग्रहण कीजिए। इस प्रकार निवेदन करने पर जब मुनिराज आहार ग्रहण करते हैं तब 'सोला' की स्थिति बनती है। 'सोला' में नवधाभक्ति एंव दाता के श्रद्धा आदि सात गुणों को समाहित किया गया है। 'चारित्रसार' में आया है कि-

प्रतिग्रहोच्च्य स्थाने च पाद क्षालनमर्चनम्।

प्रणामो योगशुद्धिश्च ते नव॥

उक्तं हि श्रद्धा शक्तिरलुब्धत्वं भक्तिर्ज्ञानं दया क्षमा।

इति श्रद्धादयः सप्त गुणाःस्युर्गृहमेधिनाम्।।[17]

अर्थात् (1) प्रतिग्रह (पड़गाहन) (2) उच्चासन (3) पादप्रक्षालन (4) पूजन (5) प्रणाम (6) मनशुद्धि (7) वचनशुद्धि (8) कायशुद्धि (9) भोजनशुद्धि। ये नवधाभक्ति है। तथा (1) श्रद्वा (2) शक्ति (3) निर्लोभिता (4) भक्ति (5) ज्ञान (6) दया (7) क्षमा ये दाता के सात गुण हैं। इन दोनो को मिलाकर 'सोला' बनता है। यहाँ घ्यातव्य है कि मात्र वस्त्रादिकों की शुद्वि ही सोला नहीं है बल्कि उक्त नवभक्तियां एंव दाता के सात गुण ही यथेष्ट 'सोला' है।

इस प्रकार दिया गया दान परम्परा से मोक्षकारण और साक्षात् पुण्य का कारण है- 'नच्च दानं पारम्पर्येण मोक्षकारणं साक्षात् पुण्य हेतुः।

'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' के अनुसार-

गृहकर्मणपि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।

अतिथिनाम् प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि।।[18]

इस प्रकार अतिथियों की पूजा और सत्कार करने से गृहकार्यो से अर्जित समस्त कर्म-मल धुल जाते हैं। पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि परोपकारः सम्यग्ज्ञानदिवृद्रिः स्वोपकारः पुण्यसंचयं।। अर्थात् जिन्हें दान दिया जाता है उनके सम्यग्दर्शन, ज्ञानादि की वृद्धि होती है, यही पर का उपकार है और दान देने से जो पुण्य का संचय होता है वह अपना उपकार है। जिन्हें स्व-पर उपकार की चाह है, उन्हें अतिथि संविभाग कर दान अवश्य देना चहिए रस व्रत के अन्तर्गत निम्नलिखित तथ्य आचरणीय हैं-

(1) संयमी साधुओं, व्रतियों एंव साधर्मियों को परम वात्यल्यभाव से आहार दान देना चाहिए।

(2) शरीर जन्य व्याधियों के शमन हेतु औषधिदान देना चाहिए ताकि नीरोग शरीर की प्राप्ति हो।

(3) आत्मा की भूख ज्ञान है जिससे हिताहित रूप विवेक की प्राप्ति होती

है। कहा भी है- ज्ञानामृतं भोजनम् अतः ज्ञान के प्रतीक शास्त्र भेंट करना चाहिए।

(4) साधुओं को उनके पद के अनुरूप पीछी (संयमोपकरण) एव कमण्डलु (शुद्धि-उपकरण) प्रदान करना चाहिए।

(5) साधुओं की यथायोग्य वैयावृत्ति करनी चाहिए।

अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार:-

'तत्त्वार्थसूत्र' में आचार्य उमास्वामि ने अतिथिसंविभाग व्रत के पॉच अतिचार (दोष) बताये है-

सचित निक्षेपापिधान पर व्यपदेश मात्सर्यकालातिक्रमा:।।[20]

जिनका विश्लेषण सर्वार्थसिद्धि के अनुसार इस प्रकार है-

(1) सचित्तनिक्षेप - सचित कमलपत्र आदि में भोजन रखना सचित्त निक्षेप है।

(2) सचित्तापिधान - सचित्त कमलपत्र आदि मे भोजन ढॉकना सचिन्तापिघान है।

(3) परव्यपदेश - इस दान की वस्तु का दाता अन्य है, इस प्रकार कह कर दान देना पर व्यपदेश है।

(4) मात्सर्य - दान करते हुए भी आदर का न होना या दूसरे दाता के गुणों को न सह सकना मात्सर्य है।

(5) कालातिक्रम - असमय में भोजन कराना कालातिक्रम है।

उक्त अतिचारों पर नियंत्रण लगाते हुए यथायोग्य रीति से अतिथि संविभाग व्रत का पालन करना चाहिए। राजा सोम और श्रेयांस ने भगवान आदिनाथ को इक्षुरस का आहार देकर अतिथि संविभाग व्रत का पालन किया था। फलत: पंचाश्चर्य हुए थे, देवताओं द्वारा सराहना हुई थी। 'जिन घर साधु न पूजिए, हरि की सेवा नॉहि। ते घर मरघट सारिखे, भूत बसें तिन मॉहिं'। अर्थात् जिनकें घरो में साधु जनों की पूजा नहीं होती, प्रभु की भक्ति नहीं होती वे घर श्मसान के समान हैं। उनमें भूत निवास करते हैं। जिन्हें अक्षय परम्परा की चाह है,

भोगोपभोग हेतु सुखकर पदार्थो की चाह है, अतुलित बलशाली नीरोग शरीर की चाह है, संयम मार्ग पर चलने वाले संयमियों में जिनकी आस्था है, अनुराग है उन्हें नित्यप्रति अतिथि संविभाग व्रत का निर्दोष रीति से पालन करना चाहिए। आचार्य अमितगति के अनुसार-

परिकल्प्य संविभागं स्वनिमित्तकृताशनौषाधादीनाम्।

भोक्तव्यं सागारैरतिथिव्रतपालिभिर्नित्यम्॥[23]

सन्दर्भ-

(1) श्रावकाचार संग्रह भाग-4, (2) सागारघर्मामृत टीका 4-4

(3) भगवती आराधना 2082-83ए (4) पुषार्थ सिद्धयुपाय, 136

(5) सवर्थिसिद्धि 7,21,703, (6) सागार धर्मामृत 5/42

(7)चारित्त पाहुड टीका 25/45, (8) सर्वार्थ सिद्धि 7,21,703

(9) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 360-361, (10) सागार धर्मामृत 5/41

(11) तत्त्वार्थसूत्र 7/39, (12) रत्नकरण्डश्रावकाचार - 111

(13) पद्मनन्दिपंचविंशतिका, (14) पुरुषार्थ सिद्धयुपाय 167-174

(15) यशस्तिलक चम्पू , 746, (16) वसुनन्दि श्रावकाचार, 226-231

(17) चारित्रसार , 12-13, (18) रत्नकरण्डश्रावकाचार, 114

(19) सर्वार्थ सिद्धि 7/38/726/289/7, (20) तत्त्वार्थ सूत्र 7/36

(21) सर्वार्थ सिद्धि 7/36/723, (22) कबीर साखो

(23) अमितगति श्रावकाचार - 94

-प्रधान सम्पादक-पार्श्व-ज्योति

एल-65, न्यूइन्दिरा नगर, बुरहानपुर (म0 प्र0)

श्रमण परम्परा में प्रतिपादित षट्कर्म व्यवस्था

-डॉ.सुरेशचन्द जैन

श्रमण परम्परा एक जीवन्त परम्परा है। पुराणकाव्यों में आधुनिक कर्म व्यवस्था सम्बन्धी परम्परा के मूल स्रोत पुराणों में यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। यद्यपि आचार्य जिनसेन (वि0 सं0 840 शक संवत् 705) का हरिवंश पुराण बाईसवें तीर्थकर नेमिनाथ के चरित्र-चित्रण से सम्बद्ध माना जाता है, फिर भी, उन्होनें श्रमण परम्परा के अक्षुण्ण स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है। अन्तिम कुलकर नाभिराय एंव तीर्थकर ऋषभदेव से लेकर तीर्थकर नमिनाथ की जीवन्त परम्परा का उल्लेख भी हरीवंश पुराण में हुआ है। 9वें सर्ग में तीर्थकर ऋषभदेव के उस समय का वर्णन किया है जब भोगभूमिज कल्प-वृक्षों के अभाव से संत्रस्त प्रजा युवा ऋषभदेव के सम्मुख पहुँचती है

अथान्यदा प्रजाः प्राप्ता नाभेय नाभिनोदिताः।
स्तुतिपूर्वं प्रणम्योचुरेकी भूय महार्त्तयः॥
प्रभो कल्पद्रुमाः पूर्वं प्रजानां वृत्ति हेतवः।
तेषां परिक्षयेऽभूवन् स्वयंच्युत रसेक्षवः॥ 25.26 हरिवंशपुराण

तत्कालीन स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए आ0 जिनसेन वर्णन किया है कि पहले कल्पवृक्ष प्रजा के साधन थे, तदनन्तर स्वतः रसस्रतावी इक्षुवृक्ष साधन बने, जिसके कारण कल्प वृक्षों के उपकार विस्मृत से होने लगे, परन्तु यत्र-तत्र बिखरे रसहीन इक्षुवृक्ष, फल से झुके वृक्षों का सद्भाव है, गाय-भैसों के स्तनस्राव युक्त हैं। सिंहादि हिंसा के पशुओं से हम भयभीत हैं। ऐसी स्थिति में क्या भक्ष्य है, क्या अभक्ष्य, इसका मार्ग पूछने पर युवा ऋषभदेव ने धर्म-अर्थ-काम रूप साधनों का उपदेश दिया तथा सुख की सिद्धि के लिए अनेक उपायों के साथ-साथ असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प रूप षड् कर्मों का भी उपदेश दिया। -हरिवंशपुराण 9.25.35.

इसी प्रकार का उल्लेख आदिपुराणकार आचार्य जिनसेन द्वारा भी

किया गया है। आदिपुराण में असि, मषि, कृषि, विद्या वाणिज्य और शिल्प ये छः कार्य प्रजा के आजीविका के कारणरूप बताये गए हैं।--

उपर्युक्त षड्कर्मो का उल्लेख प्रायः सभी पुराणों में प्राप्त होता है। कर्मभूमिज और भोगभूमिज योग्यता का अन्तर स्पष्ट करते हुए हरिवंश पुराण में स्पष्ट किया गया है कि जहाँ भोगभूमिज मनुष्य एक समान योग्यता के धारक होते हैं वही कर्मभूमिज मनुष्यों में न्यूनाधिक योग्यता पायी जाती है। भगवान् ऋषमदेव ने षड्कर्मो का प्रणयन करके सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया और भगवान् ऋषभदेव इसके प्रवर्तक हुए। यही कारण है कि आद्यस्तुतिकार आचार्य समन्तभद्र ने स्वंयभूस्तोत्र में उन्हें प्रजापति के रूप में स्मरण किया है।

''**प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः**
शशास कृष्यादिषु, कर्मसु प्रजाः-'' **स्वयम्भूस्तोत्र**

(1) **असिकर्म**-आजीविका के साधनों में असिकर्म को प्रथम स्थान पर रखा गया है। असिवृत्ति का प्रधान उददेश्य सेवा के साथ-साथ शन्दि्तमय स्थिति का निर्माण करना है। प्रथमतः समाज में शन्ति व्यवस्था की स्थापना के लिए ही शस्त्र (असि) का प्रयोग किया जाना अभिप्रेत था। दूसरा कारण था दुर्बलों की रक्षा करना। असिकर्म के अन्तर्गत अन्याय का प्रतिकार और न्याय की स्थापना भी है। यही कारण है कि कालान्तर में श्रावकों के लिए (1) आरम्भी हिंसा (2) उद्योगी हिंसा (3) विरोधी हिंसा (4) संकल्पी हिसा में से मात्र संकल्पी हिंसा को त्यजनीय निरूपित किया गया है, वहीं विरोधी हिंसा को करणीय भी माना गया है। अन्याय के प्रतिकार और स्वजन, समाज, देश की रक्षार्थ उठाये जाने वाले शस्त्र अत्याचार-अनाचार के निराकरण के लिए होते हैं। इसीलिए उन्हें क्षत्रिय कहा गया है। क्षत्रिय विवेकी और शान्ति का निर्माता होता है। आचार्य सोमदेव ने यशस्तिलक में कहा है-

यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्यात्
यः कण्टको वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति
न दीनकानानि शुभाशयेषु।।

जो रणांगण में युद्ध करने को सन्मुख हो अथवा अपने देश के कंटक हो अथवा जो उसकी उन्नति मे बाधक हो, क्षत्रिय वीर उन्हीं के ऊपर शस्त्र उठाते हैं दीन-हीन और साधु-आशय वालों के प्रति नहीं।

इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि दीन, हीन तथा शुभाशय वालों पर शस्त्रास्त्र जैसे अन्याय और हिंसा है वैसे ही अपने देश के कंटकों पर उसका न उठाना भी अन्याय और हिंसा है। अन्याय का हमेशा ही प्रतिरोध होना आवश्यक है अन्यथा वह वृद्धिंगत होकर भयावह रूप धारण कर लेता है। अन्याय पूर्ण स्थिति में न धर्म हो सकता है और न कर्म।

आजीविका के साधनों में न्याय का होना अपरिहार्य तत्त्व है। असि कर्म भी गृहस्थ धर्म है और गृहस्थ धर्म की पात्रता के लिए जिन गुणों को आवश्यक माना गया है उसमें न्यायोपात्त धन[2] को प्रमुख स्थान दिया गया है। आन्यायोपार्जित धन-पिपासा अनेक अनर्थ का कारण बनती है। आज के आतंक का प्रधान कारण विवेक-हीनता के साथ-साथ अन्यायोपात्त धन भी है।

-पं0 आशाधर-सागार धर्मामृत

असि कर्मी निरर्थक-विवेकहीन हिंसा में प्रवृति नही करता 'निरर्थक वधत्यागेन श्रत्रिया व्रतिनो मता' जैसे उद्‌बोधन द्वारा आचार्यो ने निरर्थक वध त्याग को ही क्षत्रियों का अहिंसा व्रत माना है। तीर्थकर ऋषभदेव क्षत्रिय थे तथा सभी तीर्थकर क्षत्रिय ही हुए। इसके अतिरिक्त पुराणों में बारह चक्रवर्ती, नवनारायण, नव प्रतिनारायण, नव-बलभद्र त्रेसठशलाका पुरुष चौबीस कामदेव सभी-क्षत्रिय थे। सभी का आदर्श जीवन रहा है। विशेष रूप से तीर्थकर शान्तिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ ने तो आर्यखण्ड तथा पॉच खण्डों की विजय की थी। जैन पुराणों की विषयवस्तु युद्धों से भरे पड़े हैं। यहाँ तक कि हरिवंशपुराण मे महाभारत युद्ध की घटना का भी वर्णन किया गया है। पद्‌मपुराण में युद्ध के लिए प्रस्थान करते हुए क्षत्रियों के लिए कहा गया है-

सम्यग्दर्शन सम्पन्न शूरः कश्चिदणुव्रती।
पृष्ठतो वीक्ष्यते पत्न्यः पुरस्त्रिदशकन्यया।।-73-168

किसी सम्यग्दृष्टि और अणुव्रती सिपाही को पीछे से पत्नी और सामने से देव कन्या देख रही है। आपाततः स्वयं, स्वकुटुम्ब के धन, और आजीविका की रक्षार्थ की जाने वाली हिंसा, संकल्पी हिंसा में गर्भित नहीं है। प्रागैतिहासिक काल से जैसे- जैसे मनुष्य ने अपने ज्ञान का उपयोग नए-नए भौतिक साधनों के दोहन और उनके उपयोग में लगाया और भौतिक समृद्धि की ओर अग्रसर हुआ है वैसे-वैसे उन उपलब्धियों की रक्षा के निमित्त उतने ही बड़ पैमाने पर रक्षा उपकरणों का आविष्कार और संग्रह भी किया है। योरोपीय अवधारणा है

कि शक्तिशाली ही जीवित रहता है और प्रत्येक व्यक्ति की यही सोच और दिशा रहती है। यही कारण है कि योरोपीय देशों ने भौतिक-समृद्धि की ओर विशेष ध्यान दिया और सामरिक शस्त्रास्त्रों का जखीरा तैयार कर दिया है। इसके विपरीत जैन परम्परा-संस्कृति से प्रभावित भारतीय संस्कृति में प्रत्येक प्राणी को जीने का अधिकार है और वह स्वतन्त्र रूप से अपने कर्तव्यों का निर्वाह कर सकता है।

2 **मषिकर्म**-लेखन कला-द्रव्य अर्थात् रुपये पैसे का आय-व्यय आदि के लेखन में निपुण मसिकर्मा व्यक्ति को मसिकर्मी कहा गया है।[3] मषी कर्मी को हम आज बैंकिग व्यवस्था के रूप में देखते है। आज विश्व की अर्थव्यवस्था का केन्द्रबिन्दु सम्मुन्नत एवं सुव्यवस्थित बैंकिग प्रणाली है। वस्तुविनिमय, द्रव्यविनिमय के रूप में मषीकर्मी देश की व्यवस्था को गति प्रदान करने में अहम् भूमिका का निर्वाह करते हैं। मषीकर्मी को भी अपनी साख का पूरा ध्यान रखना पड़ता है क्योंकि साख पर ही उसकी प्रतिष्ठा और आजीविका चलती है। साख का आधार है सत्य-व्यवहार और सद्गृहस्थ मषीकर्मी कभी असत्य व्यवहार का आश्रय नही लेता। आचार्यो ने सद्गृहस्थ को मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान कूटलेख क्रिया, न्यासापहार और साकार मन्त्र से बचने का निर्देश दिया है।[4]

3 षड्कर्म व्यवस्था का तीसरा सोपान है **कृषि कर्म**[5] देश की समृद्वि और शन्ति की अवस्था चतुर्दिक विकास का मार्ग प्रशस्त करती है। कृषि जीवन दायिनी कर्म है। भूमि को जोतना-बोना कृषि कर्म के अन्तर्गत आता है। हल, कुलि, दान्ती आदि से कृषि कर्म करने वाले को कृषिकर्मार्य कहा गया है। कृषि से आत्म निर्भरता और स्वाधीनता का भाव जाग्रत होता है। इसीलिए इसे उत्तम माना जाता है। उत्तम खती मध्यम व्यापार, की कहावत इस तथ्य को स्पष्ट करती है। कुरल काव्य में इस कर्म को सर्वोत्तम उद्यम माना गया है-

नरो गच्छतु कुत्रापि सर्वत्रान्नमपेक्षते।
तत्सिद्धिश्च कृषेस्तस्मात् सुभिक्षेऽपि हिताय सा ॥

आदमी जहाँ चाहे घूमें, पर अन्त में अपने भोजन के लिए उसे हल का सहारा लेना ही पड़ता है। इसलिए अल्पव्ययी होने पर भी सर्वोत्तम उद्यम है। श्रमण जैन संस्कृति का तो उद्घोष ही है ऋषि बनो या कृषि करो।

4 **विद्या कर्म**- चौथा सोपान है विद्या कर्म इसके अन्तर्गत आलेख्य

(चित्र) गणित आदि 72 कलायें आती है। विद्या से ही व्यक्ति लोक में सम्मान प्राप्त करता है। विद्या ही कामधेनु-चिन्तामणि आदि है, वही मित्र, धन सम्पदा है ऋृषभदेव ने अपनी पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी को अक्षरविद्या और अंकविद्या का ज्ञान कराया था। वाड्.मय के बिना कला का विकास नही हो सकता इसलिए भगवान ने सर्वप्रथम वाड्.मय का उपदेश दिया था। ऋृषभदेव ने भरतादि पुत्रों को भी अर्थशास्त्र नृत्यशास्त्र, गन्धर्वशास्त्र, चित्रकला, आदि की शिक्षा दी थी। इसी प्रकार बाहुबली के लिए कामनीति, आयुर्वेद, धनुर्वेद, रत्नपरीक्षा आदि का ज्ञान कराया था। इस प्रकार लोकोपयोगी सभी, शास्त्रों का ज्ञान ऋृषभदेव ने अपने पुत्रों को कराया। राजवार्तिककार ने इसे विद्याकर्मी आर्य के नाम से अभिहित किया है।

5 **शिल्पकर्म**- धोबी, नाई, लुहार, कुम्हार, सुनार आदि का कर्म शिल्पकर्म के अन्तर्गत आता है। प्रयोज्य उपकरणों का निर्माण करना ही शिल्पकर्म है। इन्हें शिल्पकर्मार्य कहा गया है।

6 **वाणिज्य कर्म**- चन्दनादि सुगन्ध पदार्थो का, घी आदि का रस व घन्यादि, कपास, वस्त्र, मोती आदि के द्रव्यां का संग्रह करके यथावसर उनको समूल्य देने का कर्म करने वाले वाणिज्य कर्मार्य है।

राजवार्तिककार ने असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य के आधार से सावद्य कर्म-आर्य के रूप में गणना की है। मुख्य से रूप से (1) सावद्य कर्मार्य (2) अल्पसावद्य कर्मार्य (3) असावद्य कर्मार्य।[6] असि, मसि आदि कर्म करने वाले सावद्य कर्मार्य (अविरति होने से), विरति, अविरति दोनों रूप हाने से श्रावक और श्राविकायें अल्प सावद्य कर्मार्य कहे गए हैं तथा कर्मक्षय को उद्यत मुनि व्रत धारी संयत असावद्य कर्मार्य कहे गए हैं।

यद्यपि असि मसि कृषि आदि षट्कर्मो के अभाव में गृहस्थ जीवन चल नही सकता, फिर भी उसे कूर कर्म से बचना चाहिए। सागार धर्मामृत में स्पष्ट कहा गया है कि श्रावकों को प्राणियों को दु:ख देने वाले खर कर्म (कूरकर्म) कूर व्यापार अतिचार सहित छोड़ देना चाहिए। ये कर्म निम्नलिखित हैं

(1)वनजीविका (2) अग्निजीविका (3) शकटजीविका (4) स्फोटजीविका (5) भाटजीविका (6) यन्त्रपीड़न (7) निर्लोछन (8) असतीपोष (9) सर:शोष (10) दवप्रद (11) विषवाणिज्य (12) लाक्षावाणिज्य (13) दन्तवाणिज्य (14) केशवाणिज्य (15) रसवाणिज्य

वस्तुत: भारतीय संस्कृति जिसका प्रारम्भ आदितीर्थ ऋषभदेव ने किया था और जिसका सामाजिक, राजनैतिक दीर्घकालीन प्रभाव आज भी दिखाई देता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों षट्कर्मव्यवस्था में अनुस्यूत है। सर्वसाधारण जो निवृति मार्ग का पूर्णत: पालन नही कर सकते उनके लिए अहिंसक जीवन यापन मार्ग प्रदर्शक की भूमिका का निर्वाह करें तो समाज व देश में सुव्यवस्था का निर्माण हो सकता है। आज जबकि सारा विश्व परमाणु बमों की परिधि में और आतंक के साये में है। आवश्यकता इस बात की है कि परस्पर वर्चस्व स्थापित करने की प्रवृति छोड़कर सर्वसमभाव और वात्सल्य भाव को प्राथमिकता प्रदान की जाय इससे न केवल समान का हित होगा वरन् देश का हित भी साघन होगा।

1. असिर्मषि: कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढ़ा स्यु: प्रजाजीवन हेतव:।। आदिपुराण 16-179
तत्रासिकर्मसेवायां मषिर्लिपि विधौस्मृता।
कृषिर्भूकर्षणे प्रोक्ता विद्या शास्त्रोपजीवने।।
वाणिज्यं वणिजाकर्म शिल्पा स्यात् करकौशलम्।
तच्च चित्र कलापत्रच्छेदादि-बहुधा स्मृतम्।। 181-182 आ0 पु0

2. न्यायोपात्त धनो: यजन् गुणगुरुन्सद्गी स्त्रिवर्ग भज:
न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिसीस्थानालयो हीमय:।
युक्ताहारविहार आर्यसमिति: प्राज्ञ: कृतज्ञोवशी
श्रृण्वन् धर्मविधिं दयालुरधमी: सागारधर्मचरेत्।।

3. द्रव्याय व्ययादि लेखन निपुण मषीकर्मार्या:-रा. बा. 36

4. मिथ्योपदेश रहोभ्याख्यान कूटलेखक्रिया न्यासापाहार साकार मन्त्रभेदा:-तत्वार्थसूत्र -7.26

5. हल कुलि दन्तालकादिकृष्युपकरण विधान विद कृषिवला कृषिकर्मार्या: -रा. वा. -3-36

6. कर्मार्यास्त्रेघा सावद्यकर्मार्या, अल्पसावद्यकर्मार्या, असावद्यकर्मार्यापूचेति। सावद्य कर्मार्या: षोढ़ा-असि-मसि-कृषि-विद्या-शिल्पवणिक्कर्मभेदात्।।-रा. वा. -3-36
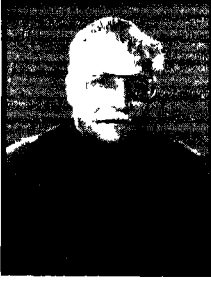
3 11 1933–18.11 2001

श्री उम्मेदमल जैन पाण्ड्या
पिता :- श्री छगन लाल जी पाण्ड्या
माता :- श्रीमती भंवरीदेवी जी पाण्ड्या
जन्मस्थान :- कुचामन सिटी (राजस्थान)

अखिल भारतवर्षीय संस्थाओं के प्रति सक्रिय रूप से आजीवन समर्पित, मृदुभाषी, उदारमना, दानशील, देवशास्त्र गुरु के अनन्य भक्त, सभी साधु सन्तों के कृपा पात्र, श्री दिगम्बर जैन आदर्श महिला महाविद्यालय श्री महावीर जी, लूणवा, पद्मपुरा, जम्बूद्वीप, पावापुर एवं श्री सम्मेद शिखर जी आदि तीर्थ क्षेत्रों के चतुर्दिक विकास मे समर्पित, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, भारतवर्षीय तीर्थ क्षेत्र कमेटी व शिखर जी ट्रस्ट के वरिष्ठ उपाध्यक्ष, जैन महासभा दिल्ली के अध्यक्ष, भारतवर्षीय अनाथ रक्षक जैन सोसायटी एवं सराक ट्रस्ट आदि अनेक संस्थाओं के न्यासी, शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर जी आन्दोलन के अग्रणी व्यक्तित्व, श्रवणबेलगोला यात्रा संघ व महामस्तकाभिषेक, सहस्राब्दी समारोह श्री महावीर जी, कुण्डलपुर महामस्तकाभिषेक एवं अनेक पंचकल्याणकों में तन, मन, धन से सक्रिय वरिष्ठ सहयोगी पाण्ड्या जी गत कई वर्षो से वीर सेवा मंदिर की कार्यकारिणी में सदस्य और संस्था के विद्वान पंडित पद्मचन्द्र जी शास्त्री के स्नेह पात्र रहे हैं। समन्वयवादी दृष्टिकोण के लिए विख्यात, आर्ष परम्परा के सच्चे उपासक श्रद्धेय श्री उम्मेदमल जी जैन पाण्ड्या के प्रति वीर सेवा मंदिर की विनम्र श्रद्धान्जलि।

–सुभाष जैन, महासचिव
वीर सेवा मंदिर